Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 37, अंक 1
जनवरी-जून, 2023

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 37, अंक 1 जनवरी–जून, 2023

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–293668 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर,

   भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 200/–
संस्थाएं : रु. 500/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 5000/–
संस्थाएं : रु. 10000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. हेगेल की वैचारिक विरासत और उपनिवेशकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन 5
शरद देशपाण्डे
अनुवाद – मोहित टण्डन

2. इतिहास और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में मिथिला की न्यायपरंपरा 23
अरूण मिश्र

3. कुमारप्पा का अर्थायन 109
मिथिलेश कुमार तिवारी

4. प्रोफेसर जीतेन्द्र नाथ मोहन्ती (पूरब और पश्चिम की अन्तःपदीय समझदारीके उन्मीलक आचार्य) 125
संजय कुमार शुक्ल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अव 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हेगेल की वैचारिक विरासत और उपनिवेशकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन

शरद देशपाण्डे
अनुवाद -मोहित टण्डन

प्रस्तुत निबंध का शीर्षक "इण्डिया एण्ड यूरोप"[1](हाबफास् : 1988) इस सरल वाक्यांश में निहित एक व्यापक एवं अत्यंत जटिल उपविषय को व्यक्त करता है। मूल पाठ 'इण्डिया एण्ड यूरोप' इतिहास की दृष्टि से देखा गया है जो अपनी व्यापक जटिलताओं सहित यह बयाँ करता है कि कैसे योरोपीय व भारतीयों ने एक–दूसरे को अपने–अपने जीवन–विश्वों (Life-worlds) के चश्मे से देखा व समझा। अतः मूलपाठ इन दो महान् सभ्यताओं की धार्मिक, सामाजिक–सांस्कृतिक और दार्शनिक परंपराओं में निहित विचारों और विश्वासों के दो तरफा ग्रहण की चर्चा करता है। लेकिन जब तक हम मूलपाठ में निहित 'प्राच्य' (Orient) के योरोपीय दृष्टिकोण के संदर्भ में विकसित मुख्य विषय और उप–विषय को आवश्यक पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले विशेष भारतीय संदर्भ से परिचित नहीं होते तब तक हमें 'हेगेल की वैचारिक विरासत और उपनिवेशकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन' यह उप–विषय बोधगम्य न होगा। इसलिये यहाँ उन कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा जिन्होंने सामान्यतः 'प्राच्य' और विशेषतः भारत, अर्थात् भारतीय दर्शन व धर्म, को समझने व उसके प्रति एक दृष्टिकोण विकसित करने में हेगेल की दिलचस्पी को एक निश्चित अवधारणात्मक रूप दिया। अतः, हेगेल के कथित प्रभाव की चर्चा 'आधुनिक भारतीय दार्शनिकों का हेगल से सामना' इस विशिष्ट संदर्भ में की जायेगी।

I

जैसा कि उनके लेखन से प्रतीत होता है, हेगेल की भारत में दिलचस्पी उनके सार्वभौमिक इतिहास रूपी तद्कालीन वर्तमान मानव–दशाओं को समझने के उनके आजीवन प्रकल्प के प्रसंगवश है। ऐसा कहा

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 1, जनवरी–जून 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है कि हेगेल से पहले इतिहास विभिन्न व्यक्तियों का एक 'बहुलवादी' (plural) इतिहास था, हेगेल ने इसे सकल मानव–जाति के 'एकल' (singular) इतिहास में बदल दिया। यह इतिहास अमूर्त (abstract) व सार्वभौमिक (universal) था। हेगेलीय प्रकल्प इस अमूर्त व सार्वभौमिक इतिहास के परम लक्ष्य तथा प्रयोजन की खोज में निहित था। हेगेल की भारत में दिलचस्पी या किसी भी अन्य गैर–योरोपीय सभ्यता में दिलचस्पी इसी सार्वभौमिक इतिहास को समझने का मात्र एक हिस्सा था। यहाँ जर्मन प्राच्यविदों व स्वच्छंदतावादियों की भारत में दिलचस्पी और हेगेल की भारत में दिलचस्पी, इन दोनों में भी फरक करना आवश्यक है। (हाबफास् : 1988: 84–5)। अन्य जर्मन प्राच्यविदों की तरह हेगेल की दिलचस्पी भारतीय ग्रंथों के भाषा–विज्ञानी पाठ में नहीं थी। उन्होंने संस्कृत या किसी अन्य भारतीय भाषा को सीखने का कोई प्रयास नहीं किया था। (हाबफास्: वहीं)। हेगेल अमूर्तीकरण व परिकल्पनाओं के जगत् में रहने वाले और अपने वैचारिक ढाँचे को साक्षात् अनुभव की कसौटी पर परखने में अनिच्छुक व अयोग्य एक 'पुस्तकीय व्यक्ति' थे, ऐसा कहते हुए जर्मन प्राच्यविदों ने हेगेल के भारत–विषयक लेखन को सकारात्मक रूप से स्वीकार नहीं किया था। (हाबफास्: वही) इसके अतिरिक्त, वे 'पश्चिमी व्यक्ति विशेष' का एक नमूना थे जिन्होंने पश्चिमी विचार को सभी बातों के लिये एकमात्र मानदण्ड के रूप में देखा। (हाबफास्: वही) वहीं दूसरी ओर, हेगेल भी प्राच्य को, विशेषकर भारत को, धार्मिक–अनुभव (religious experience) व आत्म–पूर्ति (self-fulfilment) के वैकल्पिक ढंगों में समझने की स्वच्छंदतावादियों की दिलचस्पियों को भी साझा नहीं करते थे। उन्होंने 'उत्पत्ति' के सिद्धान्त व 'इतिहास के प्रारंभिक चरण' के रूप में प्राच्य, विशेषकर भारत को, महिमामंडित करने के स्वच्छंदतावादियों के प्रयासों का भी विरोध किया था। स्वच्छंदतावादियों के प्रति हेगेल का यह विरोध उनके उस इतिहास–दर्शन से उपजता है जो 'वर्तमान' की सत्तामीमांसा और इतिहास की अपरिवर्तनीय दिशा को मान्य करता है। हेगेल का भारत से सम्बन्ध एक ऐसे योरोपीय दार्शनिक का है "जिसका दर्शन उन्हें निष्पक्ष न रहने को बाध्य करता है"। (हाबफास् : वही) हेगेल योरोपीय दार्शनिक परंपरा में मात्र एक निष्क्रिय प्रतिभागी नहीं थे। उन्होंने "अपने खुद के चिंतन में इस परंपरा को समझने व उसे सिद्ध करने का सचेत प्रयास" किया था। (हाबफास् : वही) हेगेल एकांगी थे, किंतु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उनका एकांगीपन एक सीधा पूर्वाग्रह नहीं है; बल्कि वह एक गहन ऐतिहासिक व सुव्यवस्थित चिंतन और वस्तुनिष्ठ अन्तर– सांस्कृतिक बोध के विचार मात्र को एक चुनौती है। (हाबफास् : वही)

हेगेल का भारत से परिचय द्वितीयक स्रोतग्रंथों, मुख्यतः उनके समकालिक हेन्री थॉमस कोलब्रुक, फ्रेडेरिश श्लेगल, विल्हेम फॉन हम्बोल्ट द्वारा लिखित कुछ भारतीय ग्रंथों के अनुवाद के माध्यम से और साथ ही विलियम जोन्स, फ्रान्सिस विल्फोर्ड, जेम्स मिल कृत अंग्रेजी अनुवादों पर आधारित था। उन्होंने सन् 1824 में प्रकाशित हुए कोलब्रुक लिखित दो निबंध "ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिंदूज़" पढ़े थे और उन पर प्रतिक्रया भी दी थी। ये निबंध भारतीय दार्शनिक परंपरा के दो मुख्य आस्तिक सम्प्रदायों– सांख्य व न्याय–वैशेषिक– को प्रस्तुत करते हैं। हेगेल न केवल इन निबंधों का "भारतीय चिंतन के पाश्चात्य–बोध के लिये एक नये आधार" के रूप में स्वागत करते हैं (हाबफास्: वही) बल्कि वे दर्शन के इतिहास पर अपने व्याख्यानों में इनको संदर्भित भी करते हैं। उन्होंने हम्बोल्ट के 'भगवद्गीता' पर निबंधों को भी पढ़ा था और उन पर प्रतिक्रिया भी दी थी। उन्होंने इन निबंधों का स्वागत अनुवाद हेतु उपयुक्त मानदण्डों को स्थापित करने के रूप में किया। जहाँ तक भारत सम्बंधी उनकी समझ का प्रश्न है, 1827 में प्रकाशित उनका हम्बोल्ट के निबंधों पर एक विस्तृत समीक्षा–लेख, एक अर्थ में, उनकी भारत विषयक भूमिका का प्रमाण है। (हाबफास्: वही)

हाबफास् के विवरणानुसार, हेगेल के भारतीय दर्शन से परिचित होने के एक मात्र सीधे स्रोत ये ही ग्रंथ थे। यह स्पष्ट ही है कि ये ग्रंथ भारतीय दर्शन के विषय में एक सुविज्ञ व विद्वत्तापूर्ण मत को आकार देने हेतु अपने में पर्याप्त नहीं थे। फिर ऐसा क्या है जो हेगेल को भारत–योरोप सम्बन्धी विमर्श से जुड़े महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में एक बनाता है? इस प्रश्न का उत्तर हेगेल द्वारा उपर निर्देशित अनुवादों की समीक्षा या उनकी प्रतिक्रिया में अंतर्भूत नहीं है, बल्कि इतिहास व दर्शन के स्वरूप के विषय में उनकी दृष्टि में अंतर्भूत है। इस विमर्श में हेगेल उस ढंग के कारण महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं जिसमें वे भारतीय ग्रंथों के अपने पाठ और उनके प्रति अपनी समझ को अपनी ही चिंतन–प्रणाली में एकीकृत कर देते हैं। उनका इतिहास–दर्शन (Philosophy of History) ही उनकी भारत व भारतीय दर्शन की समझ को निर्धारित करता है। अतः यहाँ उनकी दार्शनिक प्रणाली का एक संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हेगेल के दर्शन में अतीत व वर्तमान न केवल जुड़े हुए हैं बल्कि मुख्य रूप में संघटित हैं। वर्तमान (अर्थात् वर्तमान चिंतन प्रणाली/व्यवस्था) और अतीत (अर्थात् इतिहास) ये "चेतना के आत्म–अभिव्यक्तिकरण के दो पहलू हैं"। हमारे अस्तित्व की वर्तमान स्थितियों में जो अव्यक्त है और जो हमारे अस्तित्व की पूर्वमान्यता है उसका वर्णन एवं मूर्तीकरण इतिहास बोध करता है। (हाबफास्:1988:87)। अतीत व वर्तमान के सम्बन्ध के इसी सामान्य ढाँचे को मानकर ही हेगेल का इतिहास–दर्शन सिद्ध हो जाता है। उनका इतिहास–दर्शन मूलतः योरोपीय–दर्शन का एक ऐसा इतिहास है जिसमें अन्य किसी भी गैर–योरोपीय दर्शनों का कोई स्थान नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनकी 'विश्वात्मा' (Welt-Geist) की अवधारणा व तद्नुसार उनकी वैश्विक–इतिहास की विकास–प्रक्रिया की अवधारणा ऐतिहासिक विकास की किन्हीं अन्य, स्वतंत्र या समानांतर धाराओं की मान्यता के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ती। (हाबफास्: 1988:88) उनकी इस संरचना में 'प्राच्य' और विशेषकर भारत का कोई स्थान नहीं है क्योंकि तत्त्वतः प्राच्य का एक प्रारम्भ है। विश्वात्मा (World-spirit) पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती है।

ऐतिहासिक गति का सिद्धांत अर्थात् एक चरण का दूसरे चरण में गमन और भारतीय दर्शन पर इस सिद्धांत का प्रभाव, इस संदर्भ में हेगेल का मत विशेष रुप से प्रासंगिक हैं। हेगेल के मतानुसार, तत्त्वात्मकता (substantiality or substance-ness) अर्थात् एक आधारभूत तत्त्व की एकता व परमता ही 'प्राच्य' और खासकर मनुष्य के चिंतन (thought) के भारतीय चरण (Indian Stage) को चिन्हित करती है। हेगेल के अनुसार, भारत के धर्म (पंथ/सम्प्रदाय) मूलतः 'तत्त्व' (substance) के धर्म (पंथ) हैं जो ईश्वर को ऐसे परम, शुद्ध और अमूर्त, स्वयं–में–सत्ता (being-in-itself) के रूप में लेते हैं जो सभी परिमित व विशिष्ट सत्ताओं को उसके अनावश्यक/गौण परिवर्तन मानते हुए उन्हें खुद की स्व–पहचान व स्व–गरिमाहीन करते हुए छोड़ देता है। (हाबफास्: वही)

जहाँ तक भारत की बात है, हेगेल धर्म (religion) व दर्शन (philosophy) में कोई तात्विक भेद नहीं करते। उनके लिये दोनों अवियोज्य हैं। किंतु यह मान्यता समस्यात्मक या त्रुटिपूर्ण है क्योंकि पश्चिमी अर्थ में धर्म (पंथ, रिलीजन), 'धर्म' के भारतीय बोध से ऐक्य नहीं रखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोई भी व्यक्ति ईश्वर, धर्मग्रंथ, या कर्मकाण्ड में विश्वास के बिना भी हिंदू हो सकता है। अतः भारतीय दर्शन को भारतीय धर्म (पंथ, रिलीजन) से जोड़कर देखने का यह हेगेल का प्रयास दोषपूर्ण व निराधार है।

भारतीय दर्शन तत्त्वोन्मुखी (substance oriented) या तत्त्व केंद्रित (substance-centric) है। यह हेगेल का विचार भारतीय दर्शन के कुछ ही सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा में पुष्ट होता है। किंतु बौद्ध व चार्वाक जैसे भारतीय दर्शन इस मत का खण्डन करते हैं कि तत्त्व ही सत्ता है। अतः भारतीय दर्शन तत्त्व–केंद्रित है, यह दावा पक्षपातपूर्ण है। वेदांत जैसे भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय अवश्य हैं जो शुद्ध, निर्विकल्प, अद्वैत तत्त्व में विश्वास रखते हैं। यह वह तत्त्व है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सबका लोप हो जाता है। वेदांत दर्शन की परिभाषा में यह तत्त्व 'ब्रह्म' है। हेगेल इस पद से और इसके अर्थ से परिचित हैं। किंतु फिर भी, वे 'द्वन्द्वात्मक मध्यस्थता (dialectical mediation) की कमी' के कारण इसकी आलोचना करते हैं। (हाबफास्:1988:90) इतिहास का प्रवाह व प्रगति द्वन्द्वात्मक है और इसलिये परिमित व अनंत के बीच के सम्बंध को 'द्वन्दात्मक रूप में व्याख्या–योग्य होना चाहिये, ऐसा वे मानते हैं। किंतु एक ओर परम–तत्त्व रूपी ब्रह्म की अवधारणा में "परम व अनंत (absolute or infinite) परिमित व सापेक्ष (finite or elative) के लिये कार्यरत नहीं है, तो दूसरी ओर सापेक्ष व परिमित, अनंत को प्रभावित नहीं करते हैं। इसलिये, मनुष्य एवं विश्व के विकास की दिशा में कोई ऐतिहासिक प्रगति नहीं होती, ऐसा हेगेल का मानना है।" (हाबफास्:वही)

हेगेल के भारतीय दर्शन को नकारने और साथ ही भारत व भारतीय दर्शन सम्बंधी उनके विख्यात योरोप–केंद्रित दृष्टिकोण के बावजूद हेगेल ने बीसवीं सदी के प्रारंभ में अनेक भारतीय दार्शनिकों को आकर्षित किया था। हेगेल व भारतीय दार्शनिकों के बीच संपर्क का मुख्य बिंदु उनकी परम–तत्व (absolute) की अवधारणा है। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा हेगेल का स्वागत अंतर–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में 'परम' (absolute) की अवधारणा का विस्तृतीकरण है। मौलिकता व उच्चकोटि की सृजनात्मकता के होते हुए भी यह स्वागत अस्पष्ट, मिले–जुले भाव वाला और यहाँ तक कि समस्यात्मक भी हो जाता है। भारत में हेगेल के स्वागत को विस्तार से समझने के लिये इस निबंध के दूसरे भाग की ओर चलना आवश्यक है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

II

ऐतिहासिक रूप से देखें तो हेगेल का भारत में प्रभाव 19वीं सदी के अंतिम भाग और 20वीं सदी के प्रारंभिक भाग के औपनिवेशिक भारत में, विशेषकर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में और भारतीय विश्वविद्यालयों व शोध संस्थानों में स्थापित दर्शन के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। किंतु हैरानी की बात यह है कि इस कालावधि में भारतीय इतिहासकार हेगेल की विश्व–इतिहास–क्रम (World History) सम्बंधी दार्शनिक समझ के प्रति और हेगल के इतिहास–लेखनशास्त्र (Historiography) सम्बंधी दृष्टिकोण के प्रति उदासीन दिखायी देते हैं। संभवतः ऐसा इसलिये क्योंकि वस्तुतः इस कालावधि में भारतीय इतिहासकार मुख्यतः उन ऐतिहासिक अभिलेखों और दस्तावेजों को प्राप्त करने तथा उन्हें बचाने में लगे थे जो भारतीय प्रांतीय रियासतों के प्रथम–कोटि (first order) के ऐतिहासिक विवरणों तथा आख्यानों के लेखन हेतु आवश्यक थे। हेगेल के इतिहास सम्बंधी दार्शनिक मत के प्रति इस मौन के कुछ अपवाद भी थे। जैसे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े (1864–1926), जो एक विख्यात मराठी–भाषी इतिहासकार हैं, हेगल के इतिहास–दर्शन पर अवश्य ध्यान देते हैं। 'रामदास' (राजवाड़े:1958:257–260) नामक निबंध में राजवाड़े हेगेल के मत को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार, राज्य (State) ही 'आत्मा/चेतना' (Spirit) की मूर्त अभिव्यक्ति है और यह राज्य ही है जिसके माध्यम से आत्मा/चेतना अपनी परम स्वतंत्रता को प्राप्त करती है। राजवाड़े मानते हैं कि इसी धारणा को संत रामदास[2] द्वारा लिखित 'दासबोध' (शिष्य को परामर्श) व्यक्त करता है। उनके अनुसार, 'दासबोध' ग्रंथ यह प्रतिपादित करता है कि एक नैतिक शासन–व्यवस्था के रूप में राज्य 'आत्मा/चेतना' की स्वतंत्रता की मूर्त यानी जीती–जागती अभिव्यक्ति है। इसलिये 'दासबोध' इतिहास–दर्शन का एक तत्त्वमीमांसीय ग्रंथ है। लेकिन एक इतिहासकार होने के नाते राजवाड़े हेगेल के योरोप–केंद्रित दृष्टिकोण को पक्षपातपूर्ण बताते हुये उसका खण्डन भी यह कहते हुए करते हैं कि उसमें उस यथार्थ अर्थात् उन वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के ज्ञान का पूर्णतया अभाव है जो स्वतंत्रता–प्राप्ति के साधनों के रूप में 16वीं सदी के भारत में शिवाजी के नेतृत्व में एक नयी राजनीतिक–शासन– व्यवस्था के उद्भव की ओर जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राजनीति के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारक, पार्टी कार्यकर्ता, और उस समय के कुछ समाजवादी भी हेगेल की विचारधारा से अपरिचित नहीं थे। किंतु इस काल में हेगेल से उनका जुड़ाव बहुत हद तक न्यूनतम नहीं तो गौण अवश्य था। उनका यह जुड़ाव स्टालिन–कृत मार्क्स की भौतिकवादी पाठ के माध्यम से था जिसमें मार्क्स हेगेल के द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद की द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में पुनर्रचना करते हैं। इसी का अनुकरण करते हुए ये मार्क्सवादी विचारक भारतीय इतिहास व उस समय की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों को मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संदर्भ में ही समझते थे। ऐसे में, मार्क्सवादियों के लिये हेगेल के 'परम'(Absolute) केंद्रित तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या करने वाले पद्धतिपरक साधन के तौर पर हेगेल का द्वंद्ववाद अधिक महत्त्वपूर्ण था। वस्तुतः मार्क्सवादियों ने हेगेल की तत्त्वमीमांसा और उनके आत्मा (Geist) की अवधारणा की निंदा की थी। हेगेल को अनावश्यक और कभी–कभी तो खतरनाक भी समझा गया था। लेकिन 1966 में प्रकाशित प्रो. दिनकर केशव बेडेकर उर्फ दि. के. बेडेकर की हेगेल पर लिखी किताब भारतीय मार्क्सवादियों का हेगेल के प्रति जो रवैया था उसका एक उल्लेखनीय अपवाद कही जा सकती है। (बेडेकर:1966) किंतु अनुवाद की विकट समस्याओं के प्रति बेडेकर की सूक्ष्म–दृष्टि और द्वन्द्ववाद, आत्मा, चेतना, राज्य आदि अवधारणाओं को योरोपीय संदर्भ में समझने के उनके आग्रह को देखते हुये यह स्पष्ट ही हो जाता है कि बेडेकर का हेगेल से जुड़ाव एक पार्टी–कार्यकर्ता की अपेक्षा शैक्षणिक प्रकृति का अधिक था। मार्क्सवादी व समाजवादी मण्डलियों की परिधि के बाहर देखें तो एक दिलचस्प बात सामने आती है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रसिद्ध त्रिमूर्ति, लाल, बाल, पाल में से एक, बिपिन चन्द्रपाल जैसे राष्ट्रीय नेता का उल्लेख 'एक महा–हेगेलवादी' के रूप में मिलता है। (मैत्राः 1952:380) हालांकि, यह केवल अनुमान का ही विषय है कि क्या और कहाँ तक बिपिन चंद्रपाल जैसे नेताओं पर हेगेल के प्रभाव की झलक उपनिवेशकालीन राष्ट्रीय राजनीति से उनके जुड़ाव में दिखती है। यही बात न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले व अन्य जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के नेताओं के विषय में भी कही जा सकती है। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों पर हेगेल के प्रभाव की तुलना में पूर्ववर्ती बीसवीं सदी के आरम्भ में भारत के अंग्रेजी–शिक्षित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचारकों पर उनका प्रभाव काफी हद तक एक उपेक्षित विषय रहा है। (देशपांडे:1989: xvi)

इस पृष्ठभूमि में, बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध के औपनिवेशिक भारत में आधुनिक भारतीय दार्शनिकों का हेगेल से सामना एक महत्त्वपूर्ण किंतु उतना ही अस्पष्ट विचार बनकर कर उभरता है। इनमें से कुछ अस्पष्टताओं को समझने के क्रम में जो पहली बात उल्लेखनीय है वह यह कि किसी एक दार्शनिक परंपरा–विशेष से स्वतंत्र रहे दार्शनिक के रूप में हेगेल को नहीं समझा गया। अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों की भांति हेगेल को भी प्राचीन यूनानी से लेकर 19वीं सदी के 'आधुनिक' पाश्चात्य दार्शनिकों तक के पाश्चात्य दर्शन के इतिहास के मात्र एक अंश के रूप में ही समझा गया। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने, स्पष्टतया या अस्पष्टतया, इसी "ऐतिहासिक" हेगेल के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त कीं। भारतीय दार्शनिक विश्व–दर्शनों (Philosophical World-views) को पश्चिमी विचार–विश्व के सामने रखने के औपनिवेशिक संदर्भ में भारत में प्रचलित हुई हेगेलवादी विद्वत्ता का स्वरूप निर्धारण करने में इस तथ्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस प्रस्तुतीकरण हेतु आवश्यक था एक ऐसा विश्व–दर्शन जो पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा से मेल खाता हो और जिसकी परिभाषा व पदावली न केवल पश्चिम को ज्ञात हो बल्कि उसकी मौजूदगी व्यवहार में भी हो। भारतीय चिंतन पश्चिमी जगत् को जिस औपनिवेशिक संदर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा था उसकी यही मांग थी। यह व्यापक संदर्भ और जिस पाश्चात्य दार्शनिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हेगेल को ग्रहण किया गया था, वह यह भी स्पष्ट करता है कि क्यों हेगेल के 'परम' (Absolute) के सिद्धान्त, या प्रसिद्ध हेगेलवादी 'निरपेक्ष (परम) प्रत्ययवाद'(Absolute Idealism) को आधुनिक भारतीय दार्शनिकों से आलोचनात्मक प्रतिसाद मिला। इस तथ्य पर भी बल देना आवश्यक है कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों पर हेगेल का प्रभाव और उनके द्वारा हेगेल को दिये गये प्रत्युत्तर के विविध स्तर हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक, हीरालाल हल्दर, (1865–1942) संभवतः एकमात्र आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं जो स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि "हेगेल और उनके प्रभाव से निकले दार्शनिक आंदोलन का अध्ययन व उसकी व्याख्या ही उनके जीवन का मुख्य कार्य रहा है।" (हल्दर, 1927: vi) इसी तरह, शिशिर कुमार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मैत्रा उर्फ एस.के.मैत्रा (1887–1963) हेगेल का उल्लेख उनके "प्रथम दार्शनिक गुरू" के रूप में करते हैं। (मैत्रा:1952:380)। वहीं हल्दर, मैत्रा, ब्रजेंद्रनाथ सील सहित अन्य दूसरे दार्शनिक भी इस तथ्य को बेझिझक स्वीकारते हैं कि किस तरह उन्होंने अपनी दार्शनिक जीवन–यात्रा के दौरान हेगेल के प्रभाव पर विजय पायी। ये और अन्य आधुनिक भारतीय दार्शनिकों का हेगेलीय प्रभाव से बाहर निकलना अनेक दार्शनिक विचारणाओं से प्रेरित था। उसे किसी भी तरह नकारात्मक रूप में व्याख्यायित नहीं किया जाना चाहिये।

उपयुर्क्त टिप्पणियों को आगे बढ़ाते हुये और यह ध्यान में रखते हुये कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा हेगेल का अध्ययन पाश्चात्य दर्शन के इतिहास के एक अंश के तौर पर ही किया गया था, साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि हेगेल को एक अन्य अति प्रभावशाली जर्मन दार्शनिक इम्मैनुअल कांट के अग्रानुक्रम में पढ़ा गया और व्याख्यायित किया गया। वस्तुतः अनेक आधुनिक भारतीय दार्शनिक हेगेल के निरपेक्ष परम–प्रत्ययवाद में, कांट के आत्मनिष्ठ–प्रत्ययवाद की ही 'परिणति' देखते हैं। यह पाठ–बोध आधुनिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा विविध ढंगों व विविध स्तरों में व्यक्त किया गया है। पूला तिरुपति राजू उर्फ पी.टी. राजू और कुछ अन्य के मत में हेगेल ध्यानाकर्षक इसलिये हैं क्योंकि अपने द्वन्द्ववाद के माध्यम से वे कांट द्वारा अधूरी छोड़ दी गयी आत्मा व जगत् के विरोध की समस्या को बुद्धि–विकल्पों को अन्तर्सम्बंधित करते हुये सुलझा देते हैं। (राजू:1952: 514) एस.के. मैत्रा तो यहाँ तक कहते हैं कि 'उन्होंने कांट को "अपूर्ण हेगेल" और हेगेल को 'पूर्ण कांट' के रूप में पाया। (मैत्रा:1952 : 380) औपनिवेशिक संदर्भ में आधुनिक भारतीय दार्शनिकों पर हेगेल के प्रभाव को निर्धारित करने में हेगेल का निरपेक्ष प्रत्ययवाद, विशेषकर उनका 'परम'(Absolute) का सिद्धान्त ही एक महत्त्वपूर्ण कुंजी है। वस्तुतः, यहाँ हम पाते हैं कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लेखनों में 'परम' की संकल्पना प्रायः एक नारा–सूचक शब्द तथा एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा बन गया है। यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस एकमात्र प्रश्न ने आधुनिक भारतीय दार्शनिकों को सर्वाधिक व्यस्त रखा, वह प्रश्न यह था कि "परम का स्वरूप क्या है?" और हम पाते हैं कि लगभग हर एक आधुनिक भारतीय दार्शनिक इस प्रश्न का अपना ही एक उत्तर प्रस्तुत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करता है और ऐसा करते हुये अपनी स्वयं की ही दार्शनिक दृष्टि का स्पष्टीकरण देता है।

अब हेगेल के इतिहास–दर्शन व उस पर आधारित उनकी भारतीय दर्शन व धर्म की समझ के विषय में क्या कहा जा सकता है? प्राच्य–विद्या सम्बंधी चर्चा में यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। किंतु क्या इस प्रश्न ने आधुनिक भारतीय दार्शनिकों को किसी भी तरह चिंतित किया था? ब्रजेंद्रनाथ सील (1864–1938) जिन्हें भारत के "महानतम हेगेलवादियों में से एक" की प्रतिष्ठा प्राप्त थी, संभवतः एकमात्र आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं जिन्हें पूर्व–से–पश्चिम की ओर अग्रसर विश्व–इतिहास की रैखिकता के हेगेलवादी दर्शन से प्रेरित कहा जाता है। किंतु बाद में वे इसे अति–संकीर्ण, सीमित और फलस्वरूप एक न्यायसम्मत सांस्कृतिक संवाद की संभावना को प्रतिबंधित करने वाला विचार बताते हुये अस्वीकार कर देते हैं। (सील: 1899) ब्रजेन्द्रनाथ सील हेगेल के यूरोकेंद्रियता की प्रत्यालोचना में, संभवतः अन्जाने में ही, हेगेल के इतिहास–दर्शन सम्बन्धी वैश्विक विमर्श में प्रतिभागी हो गये थे। किंतु उनके अपवाद को छोड़कर, उपयुर्क्त उल्लिखित अधिकांश आधुनिक भारतीय दार्शनिक न तो हेगेल के भारतीय सभ्यता के प्रति यूरोकेंद्रित–दृष्टिकोण और न ही उनके "भारतीय दर्शन व धर्म सम्बंधी विशिष्ट तर्कों" के प्रति मुख्य रूप से कोई दिलचस्पी रखते दिखते हैं। (हाबफास्: 1988: 99) जैसा कि ऊपर कहा गया, उन्होंने अपने को हेगेल की 'परम' की तत्त्वमीमांसा तक ही सीमित रखा। 'परम' की अवधारणा के इस विशिष्ट संदर्भ की अर्थनिर्धारण–विषयक व इतिहास–विषयक दोनों ही ढंगों में व्याख्या की जानी चाहिये।

अब तक हम आधुनिक भारतीय दार्शनिकों एवं उनके द्वारा हेगेल–दर्शन के ग्रहण की चर्चा करते आये हैं। हालांकि, यहाँ "आधुनिक भारतीय दार्शनिक" इस वाक्यांश का स्पष्टीकरण देना भी आवश्यक है। आधुनिक भारतीय दार्शनिक वह है जो प्राचीन भारतीय दर्शन के पारंपरिक प्रस्थानों से परिचित होने के साथ–साथ यूनानी व योरोपीय परंपराओं से सम्बन्धित प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों से भी परिचित हो। यह पूर्व शर्त 1850 से 1950 तक के व्यावसायिक भारतीय दार्शनिकों पर ऐतिहासिक रूप से लागू होने हेतु दी गयी है। इस कालावधि में स्नातक व कहीं–कहीं परास्नातक स्तर पर दर्शनशास्त्र एक शैक्षणिक विषय के रूप में भारतीय विश्वविद्यालयों व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कालेजों में स्थापित हुआ था। इसके साथ ही, आचार्य, पंडित व शास्त्री आदि पदनामों से प्रसिद्ध पारपंरिक शिक्षक–वर्ग की जगह लेक्चरर, रीडर व प्रोफेसर नामक विश्वविद्यालयीन व कालेज शिक्षकों का एक नया वर्ग उभरना प्रारंभ हो गया था। इन दोनों ही वर्गों की चिंतायें नितांत भिन्न थीं। पारंपरिक पंडित व शास्त्री भारतीय दार्शनिक चिंतन को पश्चिमी जगत् को प्रस्तुत करने में इच्छुक नहीं थे, किंतु अंग्रेजी–शिक्षित व्यावसायिक दार्शनिकों के लिये यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। उनके लिये भारतीय दर्शन को अंग्रेजी में लिखना और पश्चिमी पाठक तक पहुँचाना समय की मांग थी। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लेखन के सर्वोत्तम प्रातिनिधिक संकलनों में से कुछ हैं –कन्टम्पोरेरी इंडियन फिलॉसफी (एस. राधाकृष्णन, जे. एच. म्योरहेड, 1936, 1952), के. सी. भट्टाचार्य कोमेमोरेशन वाल्यूम (एस. के. मैत्रा, जी.आर. मलकानी, टी.आर. वी. मूर्ति : 1958) एवं राधाकृष्णन : कम्परेटिव स्टडीज़ इन फिलॉसफी प्रेजेन्टेड इन ऑनर ऑफ हिज़ सिक्सटिएथ बर्थडे (डब्ल्यू.आर. इंग/एल.पी.जैक्स/एम. हिरियन्ना/ई.ए.बर्ट/पी.टी. राजू : 1951)। 1925 से लगातार प्रकाशित होने वाली एकमात्र दार्शनिक पत्रिका, "द फिलॉसोफिकल क्वार्टरली"[3] में बड़ी मात्रा में शोधपत्र प्रकाशित किये गये थे। हमारी दृष्टि में वे सभी, जिन्होंने इसमें योगदान दिया, निश्चित ही आधुनिक भारतीय दार्शनिक कहे जा सकते हैं। उनका प्राचीन ग्रीक दार्शनिक साक्रेटीज़, प्लेटो, अरिस्टॉटल से लेकर बुद्धिवादियों (डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्नीज़, कांट व हेगेल) तथा अनुभववादियों (लॉक, बर्कले व हयूम) से भलीभांति परिचय था। हालांकि उनका यह परिचय अधिकांशतः अनुवादों, टीकाओं व अंग्रेजी में परिचयात्मक ग्रंथों जैसे द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से ही था। राधाकृष्णन पर लिखे गये ग्रंथ में पी.टी.राजू, एस. के. मैत्रा एवं अनेक दूसरे लेखकों ने ब्रिट्रेन में विक्टोरियन कालखण्ड में प्रभावी रहे ब्रिट्रिश प्रत्ययवादी दार्शनिक जेम्स हचिंसन स्टर्लिंग उर्फ जे. एच. स्टर्लिंग (1820–1909), थॉमस हिल ग्रीन उर्फ टी.एच.ग्रीन(1836–1882), जॉन केयर्ड(1820–1898), एडवर्ड केयर्ड (1835–1908), फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले उर्फ एफ.एच.ब्रैडले (1846–1924), जॉर्ज सिल्वेस्टर मौरिस उर्फ जी.एस.मौरिस (1840–1889) व अन्य आंग्लभाषी दार्शनिकों द्वारा लिखित टीकात्मक व परिचयात्मक ग्रंथों के माध्यम से ही पाश्चात्य दर्शन से परिचित होना स्वीकार किया है। हेगेल के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन से उनका परिचय भी मुख्यतः इन्हीं दार्शनिकों के लेखन के माध्यम से ही था। जैसा कि हल्दर सूचित करते हैं कि हेगेल के "फेनॉमेनोलॉजी ऑफ माइण्ड" का 1910 में दो खण्डों में प्रकाशित जेम्स ब्लैक बेली उर्फ जे. बी. बेली द्वारा किया गया अनुवाद भी उस समय उपलब्ध था। यह देखना भी एक महत्त्वपूर्ण विषय होगा कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा किया गया यूरोपीय विचारों का मौलिक अध्ययन, विशेषकर हेगेल के विचारों का अध्ययन, उपर्युक्त द्वितीयक स्रोतों से कहाँ तक प्रभावित है। ऐसा इसलिये नहीं कि अनुवाद की अपनी समस्याएँ होती हैं बल्कि इसलिये कि अनुवादक या टीकाकार का मूल ग्रंथों का अपना ही पाठ होता है। यह निर्णायक है क्योंकि इंग्लैण्ड में नव–हेगेलवाद के रूप में हेगेल का समायोजन अपने आप में एक जटिल घटना है जिसका अपना ही एक इतिहास रहा है। (हल्दर :1927) द्रष्टप्स है कि 1927 में हीरालाल हल्दर, जो स्वयं भी एक हेगेलवादी के तौर पर जाने जाते हैं, उन्होंने नव–हेगलवाद का एक व्यापक व बहुत हद तक विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत किया था जिसे वे नव–हेगलवाद का एक इतिहास मात्र नहीं बल्कि अध्ययन बताते हैं। भारत में हेगेल के प्रभाव का, विशेषकर नव–हेगेलवाद के संदर्भ में, एक सही मूल्याँकन करने के लिये 19वीं सदी इंग्लैण्ड में हेगेल का जो दार्शनिक सिद्धान्त स्वीकृत था, उसका सही व सटीक बोध होना आवश्यक है।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में योरोप के दार्शनिकों में हेगेल सर्वोच्च माने जाते थे। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। इंग्लैण्ड के इतिहास में जिसे विक्टोरियन कालखण्ड (1837–1901) कहा जाता है उस कालखण्ड में दो विरोधी जीवन धारायें (विश्व–मत, World-views) विद्यमान थीं। उनमें से एक योरोपीय रेनेसाँ में विकसित नव–विज्ञान से उपजी थी और दूसरी ईसाइयत में पहले से ही मौजूद थी। इन दो जीवनधाराओं या विश्व–मतों (World-views) में स्पष्ट रूप से विरोध दिख रहा था। लेकिन इन जीवनधाराओं में मेल–जोल होना भी जरुरी था जिसे "वैज्ञानिक दृष्टि से मान्य" और "धार्मिक दृष्टि से संतोषप्रद" भी होना था। ज्ञान का स्रोत क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में पारंपरिक ब्रिटिश–दर्शन या तो इंद्रियानुभव या अन्तःप्रज्ञा इनमें से किसी एक को लेकर ज्ञान के स्रोत खोजने की ज्ञानमीमांसीय समस्या में व्यस्त था। और यह खोज अंततः इंद्रियानुभववाद या अन्तःप्रज्ञावाद में परिणत हुई थी। आवश्यकता थी धर्म व विज्ञान के बीच

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक सामंजस्यवादी व्यापक तत्त्वमीमांसा की, जो व्यक्ति को 'हमारे अपने विश्व के वास्तविक स्वरूप को समझने मे' सक्षम बना सके। इसी पृष्ठभूमि में, हल्दर जिन्हें 'दर्शन का प्रकांड विद्यार्थी' माना जाता हैं, वे जेम्स हचिंसन स्टर्लिंग से सहमति जताते हुए हेगेल को किसी अन्य दार्शनिक की तुलना में कहीं अधिक लाभप्रद मानते हैं। क्योंकि स्टर्लिंग यह प्रतिपादित करते हैं कि मनस् व जड़ एक ही तत्त्व की गोचर प्रतीतियाँ हैं, और यह मनस् ही है जो वाह्य जगत् से प्राप्त अनुभव–प्रदत्तों और बुद्धि के विकल्पों को परस्पर संश्लेषित करता है। पूरे विश्व में कांटीय विद्वान इसी संश्लेषण के स्वरूप के स्पष्टीकरण में व्यस्त रहे हैं। समय के उस मोड़ पर हेगेलीय हस्तक्षेप को स्वयं संश्लेषण–क्रिया के द्वन्द्वात्मक क्षण के अर्थ में देखा जा सकता है। इस हस्तक्षेप ने कथित विरोधी सिद्धांतों को एक उच्चस्तरीय संश्लेषण में रूपांतरित कर दिया था। इस प्रकार आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) एक व्यापक रूप से निरपेक्ष (परम) प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) में परिवर्तित हो गया। जे. एच. स्टर्लिंग इंग्लैण्ड के दार्शनिक जगत् में हेगेल को इसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। उपरोक्त भारतीय दार्शनिकों के साथ–साथ हल्दर भी नव–हेगलवादी स्टर्लिंग को उद्धृत करते हुये कहते हैं, "(कांट की) शुद्ध–बुद्धि मीमांसा (Critical Philosophy) इस प्रकार, संक्षेप में, जैसा स्टर्लिंग मानते हैं, हेगल के दर्शन में अपनी परिणति पाती है।" (हल्दर : 1927 : 10) यहाँ यह ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि ब्रिटिश प्रत्ययवादियों ने हेगेल को प्रत्ययवादी सिद्धान्त की संरचना में ढाल तो लिया किंतु पूर्णतया नहीं। यहाँ हमारे लिये विचार का तत्काल मुद्दा यही है कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों का हेगेल से परिचय स्टर्लिंग, टी. एच. ग्रीन, बर्नाड बोसांके और एफ. एच. ब्रैडले सरीखे नव–हेगलवादी ब्रिटिश समर्थकों द्वारा ही हुआ।

यह एक तथ्य है कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने हेगेल को पाश्चात्य दर्शन के इतिहास के अंश के रूप में और इंग्लैण्ड में नव–हेगेलवादियों द्वारा प्रस्तुत 'हेगेल' के रूप में प्रतिसाद या प्रतिक्रिया दी। यह भी सत्य है कि इस तथ्य ने भारत में हेगेलीय विद्वत्ता के स्वरुप को निर्धारित करने में भी योगदान दिया था। नव–हेगलवादी प्रभाव के होते हुये भी अधिकांश आधुनिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा दी गयीं ये प्रतिक्रियायें दर्शन की उनकी एक विशेष अवधारणा से उपजी थीं, जो, बदले में, दर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्म–साक्षात्कार का विज्ञान है और इसी के माध्यम से दुख से निवृत्ति का मार्ग भी है, इस प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण का पुनर्कथन ही थीं। ऐसा कहा जाता है कि हेगेल के लिये दर्शन 'परम' (Absolute) का विज्ञान है जिसे आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने आदि शंकराचार्य के ब्रहम–विद्या (परम–तत्व या परम–सत्ता का विज्ञान) के सिद्धान्त के अर्थ में समझा और व्याख्यायित किया। निरपेक्ष सत्ता – जिसे हेगेल ने 'परम' व शांकर–वेदांत ने 'ब्रह्म' कहा – उस सत्ता–विषयक कथित तौर पर समान व मिलते–जुलते सिद्धांतों के प्रतिनिधि के रूप में हेगेल (कांट, स्पिनोजा, ब्रैडले सहित) एवं शंकराचार्य (कभी–कभी रामानुज भी) के बीच तुलना इन विविध प्रतिक्रियाओं के मूल्याँकन हेतु एक सामान्य (common) केंद्र–बिंदु उपलब्ध कराती है। इन प्रतिक्रियाओं का एक विस्तृत अध्ययन अभी भी होना शेष है। हालाँकि जिन्हें आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने अत्यावश्यक व सुपरिचित पाया, उन विषयों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया, आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने हेगेल के 'परम्' के स्वरूप सम्बंधी मुख्य मुद्दे पर वेदांत के परिप्रेक्ष्य से ध्यान दिया। इस विमर्श में 'एक परम सत् और अनेक परिमित सत्ताओं के बीच सम्बंध' जैसे विषयों पर चर्चा निहित थी। वेदांत में यही ब्रह्म (परमसत्) और जगत् (सांवृत्तिक जगत्) के बीच सम्बन्ध की समस्या है। इस वैचारिक संरचना में ही परम चेतना (ब्रह्म) और वैयक्तिक चेतना (जीव) के बीच का सम्बन्ध यथोचित हो जाता है। एक अन्य समस्या, जिस पर वेदांती दार्शनिक गहन विमर्श करते हैं, वह है सत्य व ख्याति (error) के बीच सम्बन्ध। वेदांती ज्ञानमीमांसा का यह केंद्रीय प्रश्न है कि दोषपूर्ण प्रत्यक्ष का कैसे निषेध किया जाता है और कैसे सत्य तक पहुँचा जाता है। यहाँ हम जो बिंदु उठाना चाहते हैं वह यह कि हेगेल का भारतीय स्वीकारण, यद्यपि यह द्वितीयक स्रोतों पर आधारित था और ब्रिटिश नव–हेगेलवाद की वैचारिक संरचना में गढ़ा हुआ था, अंततः यह वेदांती विमर्श के विषयों, विवादों और भाषा में उलझ गया। हेगेल के 'परम' की यही अवधारणा, जिसे उनके इतिहास–प्रवाह सम्बंधी समूचे परिप्रेक्ष्य से अलग कर देखा गया, उसका अपने आप में एक नमूनेदार रूपांतर था।

III

हेगेल के निरपेक्ष (परम) प्रत्ययवाद को मिले भारतीय प्रतिसाद की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यापक विशेषताओं को और अधिक व्यापक अर्थ में देखने की आवश्यकता है। इस प्रतिसाद का स्वरूप और जिन उद्देश्यों की पूर्ति यह करता है उसकी जाँच या समीक्षा से और भी ऐतिहासिक व आलोचनात्मक प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिन्हें तुलनात्मक दर्शन की एक व्यापक वैचारिक संरचना में अवस्थित किया जा सकता है। कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, जिन्हें एक अति सुस्पष्ट व मौलिक आधुनिक भारतीय दार्शनिक के रूप में स्वीकृत किया गया है, उन्होंने 1940 में "अवधारणा एवं आदर्श" (Ideas and Ideals) के क्षेत्र में तुलना–सम्बंधी गंभीर आलोचनात्मक प्रश्न उठाये हैं। विशेषकर, भारतीय विद्वानों द्वारा की गयी विदेशी अवधारणाओं व आदर्शों की अपने स्वदेशी साँचे में अंध व सतही मिलावट की कृष्णचंद्र भट्टाचार्य तीव्र आलोचना करते हैं। यहाँ तक कि दो नितांत भिन्न संस्कृतियों (जैसे प्राच्य व पश्चिमी) से जुड़े प्रत्ययों व अवधारणाओं में तुलना करना भी उनके अनुसार समस्यात्मक है। ऐसे प्रयासों की भट्टाचार्य द्वारा की गयी तीव्र आलोचना उनके 'स्वराज इन आयडियाज',इस लेख में तत्कालीन राजनीतिक पदावली 'स्वराज' (स्वशासन) को वैचारिक जगत् में भी अपनाने की उनकी पुरजोर मांग के माध्यम से दृढ़तापूर्वक व्यक्त होती है। (के.सी. भट्टाचार्यः 1984, पुर्नमुद्रित) हाबफास्, अपने एक निबन्ध "इण्डिया एण्ड कम्परेटिव मेथड" (1985) में तुलनात्मक पद्धति व इसके भारत व भारतीय परंपरा पर प्रयोग के ऐतिहासिक उद्भव को खोजने का प्रयास करते हैं। वे तुलनात्मक पद्धति को भारत व यूरोप के परस्पर बोध की संरचना में देखते हैं और इन विषयों के अर्थ में देखते हैं, जैसे कि भारतीयों ने पश्चिम को समझने और अपनी परंपरा की व्याख्या करने में किस तरह तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया? कैसे तुलना के योरोपीय व भारतीय प्रयोग एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं? "किस प्रकार यह परस्पर तुलना, और सामान्यतः, विदेशी संस्कृतियों के प्रति यह खुलापन, एक ओर योरोपीय संस्कृति और दूसरी ओर भारतीय पारंपरिक चिंतन से सम्बन्धित होती है? (हाबफास् :1985 : 3–15) दार्शनिक जड़ाव लाल मेहता उर्फ जे. एल. मेहता के शब्दों में, एक गहरे तल पर तुलनात्मक विश्लेषण के मुख्य बिंदु, "दार्शनिक बोध में अन्तर्भूत ऐतिहासिकता के आयाम" की पूर्व–कल्पना करते हैं। (मेहताः 1974: 59–70)। इस आयाम की मान्यता की कमी मेहता कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के लेखन में भी पाते हैं। वे इस कमी का श्रेय, अंशतः "अंग्रेजी–भाषी जगत्" में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन के इतिहास को दुर्लक्षित करने वाले दार्शनिक चिंतन के माहौल को, विशेषकर इस माहौल में होने वाले हेगेल के अध्ययन को और अंशतः स्वयं भारतीय परंपरा में इतिहास के प्रति अविश्वास को देते हैं।" (मेहताः वही) आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लेखनों का व्यापक सर्वेक्षण अभी किया जाना बाकी है जो तुलनात्मक विश्लेषण सम्बंधी विविध संरचनाओं के विषय में ऐतिहासिक प्रश्नों का उत्तर दे सकेगा। लेकिन साथ ही साथ एक परा–विमर्श की आवश्यकता है जो पश्चिमी अवधारणाओं व आदर्शों के भारतीय अवधारणात्मक संरचना में समावेशीकरण और उनके आत्मसातीकरण सम्बन्धी गंभीर प्रश्नों का उत्तर दे सके।

पश्चिमी दार्शनिक परंपरा को सामान्य रुप से और विशेषकर हेगेल को दिया गया भारतीय प्रतिसाद एक विशेष मानसिकता से उपजा है। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की इस मानसिकता को हाबफास् और अन्यों द्वारा "क्षमाप्रार्थी" (apologetic) के रूप में चित्रित किया गया है। लेकिन यह "पाश्चात्य चिंतन व उसकी श्रेष्ठता व प्रभुत्व के दावों की चुनौतियों के विरुद्ध भारतीय संस्कृति की गरिमा को बचाने की युक्ति" मात्र है। (हाबफास्: 1988 : 424) राष्ट्रवाद के कठोर प्रारुप में इस प्रेरणा की भूमिका सहज गोचर है। भारतीय परंपरा, पाश्चात्य अवधारणाओं व उनसे आने वाली सीख के मानदण्ड में मापी व इन्हीं अर्थों में पुर्नव्याख्यायित की जाती है, और ऐसी तुलनायें, प्रस्तावनायें या पुर्नव्याख्यायें प्रायः पश्चिम की तुलना में भारतीय परंपरा की श्रेष्ठता, या कम से कम उससे समानता की घोषणा के उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। 20वीं सदी के आरंभ में भारत में पश्चिम के बौद्धिक ग्रहण का यह एक महत्त्वपूर्ण आयाम था।

नेशनल फेलो, ICPR, दिल्ली
भूतपूर्व टैगोर फेलो, IIAS, शिमला
भूतपूर्व आचार्य व अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय
पुणे (महाराष्ट्र)

संदर्भग्रंथ–

1. *बेडेकर, दि.के. –हेगेल, जीवन आणि तत्वज्ञान, पुणे, 1966*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

2. भट्टाचार्य, कृष्णचंद्र–स्वराज इन आइडियाज़, इंडियन फिलॉसोफिकल क्वाटिरली, अंक–11,क्रमांक–4, पुणे 1984(पुर्नमुद्रित)
3. देशपाण्डे, शरद– (संपा. प्रस्तावना सहित) फिलॉसफी ऑफ जी.आर.मलकानी, नई दिल्ली, 1989
4. हाबफास्, विल्हेम –इण्डिया एण्ड योरोप, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, 1988, प्रथम भारतीय संस्करण,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 1990
–इण्डिया एण्ड कम्पेरेटिव मेथड,फिलॉसफी ईस्ट एण्ड वेस्ट, खण्ड 35, कमांक–1, जनवरी 1985
5. हल्दर, हीरालाल, –नियो–हेगेलियनिज्म, हीथ कॅन्टन लि., लंदन, 1927
6. इंग, डब्ल्यू.आर./जैक्स, एल–पी./हिरियन्ना, एम./बर्ट,ई.ए./राजू, पी.टी. (संपादक) –राधाकृष्णन,कम्परेटिव स्टडीज़ इन फिलॉसोफी प्रेजेन्टेड इन ऑनर ऑफ हिज़ सिक्सटिएथ बर्थडे, जॉर्ज एलन एण्ड अनविन लि., लंदन,1951
7. मैत्रा, एस.के,–आउटलाइन्स ऑफ एन इमरजेंट थियरी ऑफ वैल्यूज़,(राधाकृष्णन, एस./म्यूरहेड, जे.एस (सम्पादक),कान्टम्पेरिरी इंडियन फिलॉसफी, लंदन,1952में उद्धृत।
8. मैत्रा, एस.के,/मलकानी,जी.आर./मूर्ति, टी.आर.वी. (सम्पादक) –के.सी. भट्टाचार्य मेमोरियल वाल्यूम, अमलनेर (भारत) 1958
9. मेहता, जे.एल.–द प्रॉब्लम ऑफ फिलॉसोफिकल रीकांसेप्शन इन द थॉट ऑफ के. सी. भट्टाचार्य,फिलॉसफी ईस्ट एंड वेस्ट, अंक–24, क्रमांक–1जनवरी, 1974
10. सील, ब्रजेंद्रनाथ–कम्परेटिव स्टड़ीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्चियनटी, कलकत्ता,1899
11. राधाकृष्णन, एस/म्योरहेड,जे.एच. (सम्पा) –कंटेम्पोरेरी इंडियन फिलॉसोफी, जॉर्ज एलन एण्ड अनविन लि., लंदन, 1936
12. राजू. पी.टी. –द इन्वर्ड एब्सोल्यूट एंड द ऐक्टिविज्म ऑफ द फाइनाइट सेल्फ, (राधाकृष्णन, एस/म्योरहेड, जे.एच. (संपा), कंटम्पोरेरी इंण्डियन फिलॉसफी, जॉर्ज एलन एण्ड अनविन लि., लंदन, 1952
13. राजवाड़े, वी.के.–रामदास',लक्ष्मणशास्त्री जोशी (संपा), राजवाड़े लेख संग्रह, साहित्य अकादमी, नईदिल्ली, 1958

पाद टिप्पणियाँ–

1. इस निबंध के प्रारंभिक मूल अंग्रेजी संस्करण गॉटिंजन विश्वविद्यालय (जर्मनी) और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुणे विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किये गये थे। इनेसफारनेल (गॉटिंजन विश्वविद्यालय) मंगेश कुलकर्णी व अनिकेत जावरे (पुणे विश्वविद्यालय), वी.सानिल (आई.आई.टी. दिल्ली) एवं राजन गुरुक्कल (एम.जी. विश्वविद्यालय, कोट्टायम) को उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियों के लिये धन्यवाद।

2. संत रामदास (1608–1682) शिवाजी के आध्यात्मिक गुरू माने जाते हैं।
3. फिलॉसॉफिकल क्वार्टरली, एक दार्शनिक त्रैमासिक, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, अमलनेर द्वारा प्रकाशित, वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के जिले, जलगांव में स्थित। तब के भारत में यह एकमात्र दर्शन की पत्रिका थी। प्रो. जी. आर. मलकानी इसके 1925 में आरम्भ से लेकर 1965 में इसके विच्छेदन तक इसके सम्पादक रहे। इसका प्रथम अंक अप्रैल, 1925 में प्रकाशित हुआ था।

* अनुवादक मोहित टण्डन, दर्शन विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणें में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इतिहास और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में मिथिला की न्यायपरंपरा

अरुण मिश्र

इस आलेख में निम्नलिखित बिन्दओं पर चर्चा की गयी है– 'मिथिला' एवं मिथिला की दार्शनिक परम्परायें, विदेह, विदेह और वज्जी गणराज्य, तिरहुत, मिथिला के निकट जैनदर्शन का उदय और मैथिल न्यायपरंपरा, बौद्धदर्शन के उदय का मैथिल न्यायपरंपरा पर प्रभाव, आजीविक, मिथिला में बौद्धकाल और आस्तिकदर्शन का काल, इतिहास और परंपरा में भेद, मिथिला में शास्त्रीय और लौकिक दर्शन की परम्परा, न्यायशास्त्र का तात्पर्य, पाश्चात्य तर्कशास्त्र से पूर्व मिथिला में न्यायपरंपरा वर्तमान थी, मिथिला में प्राचीनन्याय का आगमन, मगधसाम्राज्य और न्यायदर्शन, मिथिला में हिरण्यकवंश का शासन और न्याय दर्शन, मिथिला में शैशुनागवंश का शासन और न्याय दर्शन, मिथिला में नन्दवंश का शासन और न्याय दर्शन, मिथिला में मौर्यवंश का शासन और न्याय दर्शन, मिथिला में शुंगवंश का शासन और भाष्यकार वात्स्यायन का प्रवेश, न्याय में बौद्ध प्रतिपक्षी का प्रवेश, भाष्यकार वात्स्यायन कौन थे और कहाँ के निवासी थे ।

विश्व–इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम पाते हैं कि मानव–चिन्तन सदैव इतिहास और विश्व की घटनाओं से उत्प्रेरित होता है और वह स्वयं भी उनको उत्प्रेरित करता है। ये तीनों परस्परापेक्षी होते हैं। इसीलिए यह समझना आवश्यक है कि किस प्रकार से भारत का इतिहास मिथिला के न्यायदर्शन को प्रभावित किया है और इतिहास स्वयं न्यायदर्शन से प्रभावित हुआ है। किसी देश विशेष की दार्शनिक परंपरा का अध्ययन उस देश के इतिहास को जाने बिना संभव नहीं है। यह मिथिला की न्यायपरंपरा के संदर्भ में भी कहा जा सकता है। न्यायसूत्र के रचयिता महर्षि गौतम के बाद मिथिला के निकट नास्तिक दार्शनिक यथा गौतम बुद्ध, वर्धमान महावीर,

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 1, जनवरी–जून 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आजीविक मस्करीपुत्र गोशाल, एवं अजीत केशकम्बली का अवतरण होता है और साथ ही साथ मगध साम्राज्य का भी उदय होता है। मिथिला की न्यायपरंपरा इन सभी दार्शनिकों के चिन्तन से तथा मगध साम्राज्य के सम्राटों के वैचारिक रूझान से प्रभावित है। महर्षि गौतम से लेकर आज तक अनेक ऐतिहासिक, राजनैतिक और सामाजिक घटनायें मिथिला की संस्कृति और न्यायपरंपरा को प्रभावित किया है। इसीलिए इन घटनाओं के परिदृश्य में ही मिथिला की न्यायपरंपरा का उल्लेख किया जाना चाहिये। पुनः इस न्यायपरंपरा का प्रभाव मैथिली भाषा, साहित्य और वहाँ की चित्रकला पर भी देखा जा सकता है।

न्यायशास्त्र का आरम्भ महर्षि गौतम के न्यायसूत्र से होता है। यह ध्यातव्य है कि किसी भी शास्त्र की विकास–यात्रा का आरम्भ वाचिक रूप में ही होता है। वाचिक रूप में विचलन की संभावना को देखते हुए उसे लिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। महर्षि गौतम ही इस शास्त्र को सूत्र रूप में व्यवस्थित कर लिखित रूप में व्यक्त किया था। इसीलिए उन्हें ही न्यायशास्त्र का जनक कहा जाता है। महर्षि गौतम का समय ईसा से कम से कम 600 वर्ष पूर्व माना जाता है। उस समय से लेकर अभी तक यह परंपरा मिथिला में चली आ रही है। मिथिला के इस न्याय–परंपरा की विशेषता यह है कि उन सभी कालों में न्याय–परंपरा अपने स्वभाव को समयानुसार परिवर्तित करता रहा है तथा तदनुसार मिथिला में लिखे गये न्यायग्रंथों के स्वभाव में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। अतएव इस आलेखन में मैंने उन ऐतिहासिक घटनाओं को उद्घाटित करने के साथ–साथ तदनुसार मिथिला की न्याय–परंपरा के स्वभाव में आये परिवर्तन को दिखाने का भी प्रयास किया है। पुनः 2500 से अधिक वर्षों की न्यायपरम्परा में मिथिला में लिखे गये न्याय के सभी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं और जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं उन ग्रंथों का और उन सभी नैयायिकों का उल्लेख करना भी संभव नहीं है, इसीलिये विशेष कालखंड के प्रतिनिधि नैयायिकों का और उन प्रतिनिधि नैयायिकों के ग्रंथों का ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त विगत 100 वर्षों के मैथिल नैयायिकों का और उनके कार्यों का भी यथा संभव उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। यदि पटना के बिहार–ओडिसा रीसर्च सोसाईटी के पुस्तकालय, दरभंगा के संस्कृत विश्वविद्यालय, मिथिला विश्वविद्यालय, तथा मिथिला शोधसंस्थान के पुस्तकालयों में उपलब्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पाँडुलिपियों की सूची ही बनायी जाय तो वही अनेक खंडों में होगी। अतएव इस विवरण में स्वयं को सीमित करना भी अनिवार्य है।

जनक और याज्ञवल्क्य की इस भूमि का न्याय और मीमांसा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योगदान है। मिथिला में महर्षि गौतम से लेकर अद्यावधि प्राचीन न्याय , मध्ययुगीन न्याय और नव्यन्याय का विकास होता आया है। मीमांसा के तीनों संप्रदायों का विकास भी इसी क्षेत्र में हुआ है। न्याय–वैशेषिक वैदिक दर्शन एवं संस्कृति को बौद्धिक आधार प्रदान करता है। न्याय और वैशेषिक को समानतन्त्र कहा जाता है। न्याय अपने मूल रूप में प्रमाणशास्त्र है और वैशेषिक प्रमेयशास्त्र। आरम्भ में दोनों का विकास पृथक् रूप से हुआ था, परन्तु बाद में दोनों एक दूसरे का सहयोगी हो जाने से समानतन्त्र कहलाने लगे। न्याय–वैशेषिक के अनुसार यह जगत सोलह पदार्थों में विभाजित है और उन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। यह कहना आवश्यक है कि न्याय अननुमेय या किसी प्रकार अतीन्द्रिय सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। वैदिक दर्शन को तार्किक आधार प्रदान करना ही न्याय का मूल उद्देश्य था। न्याय–वैशेषिक अपने मूल रूप में ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता है। उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर यह कहा जाता है कि वात्स्यायन न्यायसूत्र का भाष्यकार थे। आरम्भ में ही यह कहना उचित होगा कि भाष्यकार वात्स्यायन भाष्य के अनेक स्थलों पर अनिश्चयवाचक सर्वनाम का प्रयोग करते हैं और उन नैयायिकों के मतों का उल्लेख करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य के बीच में भी न्यायसूत्र की अनेक व्याख्या की गयी थी और वे ग्रंथ हमारे पास तक पहुँच नहीं पाये। पुनः उद्योतकर वात्स्यायन के भाष्य पर वार्त्तिक लिखते हैं। उद्योतकर के वर्त्तिक में भी अनिश्चयवाचक सर्वनाम का प्रयोग देखने को मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन और उद्योतकर के बीच में भी सूत्र एवं भाष्य की व्याख्या की गयी थी। परन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रंथ भी हमें उपलब्ध नहीं हैं। भाष्यकार वात्स्यायन के बाद कनिष्क के समय में मिथिला की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति प्रतिकूल होने से कुछ मैथिल नैयायिक भागकर काश्मीर चले गये और वहाँ उन्होंने न्यायशास्त्र का विकास किया था। वह न्याय की काश्मीर परंपरा कही जाती है। इस परंपरा का प्रभाव काश्मीर में विकसित ध्वनिशास्त्र, काव्यशास्त्र , और अभिनवगुप्त के काश्मीर शैवदर्शन और सौन्दर्यशास्त्र पर देखा जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मगध और मिथिला में पालवंश के शासन के बाद 635 ई. के निकट उद्योतकर का आविर्भाव होता है। उद्योतकर बौद्धमतों का खंडन करते हैं और बौद्ध दार्शनिक पुनः उद्योतकर के मतों का खंडन करते है। खंडन–मंडन की यह प्रक्रिया बुद्ध के समय से ही आरम्भ हो जाती है। उद्योतकर के वार्त्तिक पर वाचस्पति मिश्र तात्पर्य टीका लिखकर न्याय का बौद्धों के प्रहार से रक्षा करते हैं। तात्पर्यटीका पर उदयनाचार्य की परिशुद्धि नामक पुस्तक उपलब्ध है। अपनी परिशुद्धि में उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र के मतों को विकसित करते हुए बौद्ध दार्शनिकों के मतों का समूल खंडन करते हैं।[1]

आरम्भिक दिनों में बौद्ध नैयायिक और हिन्दू नैयायिक दोनों अपने अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिये एक दूसरे के मतों का खंडन किया करते थे। इससे बौद्धन्याय और हिन्दून्याय दोनों का विकास होता रहा। उदयनाचार्य के बाद अनेक ऐतिहासिक कारणों से उस क्षेत्र से बौद्धों के पलायन से बौद्धों द्वारा उदयनाचार्य के मतों का मूल्याँकन नहीं हो पाया। परिणामतः उदयनाचार्य के बाद मिथिला में लिखे गये न्याय के ग्रंथों में न्याय और बौद्धों का वही संवाद देखने को मिलता है जिसका उल्लेख उदयनाचार्य तक लिखे गये न्याय के ग्रंथों में हो चुका था। उदयनाचार्य के बाद और वल्लभाचार्य से पहले के मैथिल नैयायिक मध्ययुगीन न्याय की पृष्ठभूमि तैयार करते रहे। उदयनाचार्य के आने से पहले भारतीय दर्शन के पटल पर शंकराचार्य का अवतरण हो जाने से अद्वैतवेदान्त का प्रादुर्भाव होता है। उदयनाचार्य के विरोध में श्रीहर्ष खंडनखंडखाद्य नामक ग्रंथ की रचना करते हैं। इस ग्रंथ में श्रीहर्ष न्यायवैशेषिक के मतों की तीखी आलोचना करते हैं और न्यायवैशेषिक के मतों को खंड–प्रखंड कर खाद्य बना लेते हैं। इसीलिए वे अपने ग्रंथ को खंडनखंडखाद्य कहते हैं। श्रीहर्ष के समय में भारत की दार्शनिक स्थिति अव्यवस्थित हो गयी थी। अनीश्वरवादी बौद्ध परंपरा समाप्त हो चुकी थी और ईश्वरवादी शैव कापालिक, कालामुखादि भी मृत्युसय्या पर थे। शांकर अद्वैतवाद का नैयायिक उपहास किया करते थे। नैयायिक आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा करते थे। उस समय में मात्र नैयायिक की प्रमाणमीमांसा पर ही चर्चा होती थी। इस परिस्थिति में श्रीहर्ष खंडनखंडखाद्य की रचना करते हैं और न्याय की प्रमाणमीमांसा की आलोचना करते हैं। बारहवीं शताब्दी के बाद के वेदान्त के ग्रंथों में खंडनखंडखाद्य की पूरी छाप देखने को मिलती है। श्री चित्सुखाचार्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ने अपने खण्डनाश का निर्माण ही इसी ग्रंथ से किया है। जयराशिभट्ट के तत्त्वोपपल्वसिंह के समान ही खंडनखंडखाद्य वितण्डा जाति का एक प्रमुख ग्रंथ है। ये वैतण्डिक अपने पक्ष का संकीर्तन मात्र करते हैं, अपना पक्ष स्थापित नहीं करते हैं। जो अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं करता है उस पर दोष लगाना संभव नहीं होता है। इसीलिए वैतण्डिक को अपने पक्ष के बचाव की चिन्ता नहीं होती है। वितण्डा का अलम्बन लेकर खंडनों का वक्तव्य होने से श्रीहर्ष उन खंडनों का खंडन करते हैं और वे अपने पक्ष को व्यक्त नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर नहीं होता है।[2] इस ग्रंथ में न्यायवैशेषिक के प्रतिपाद्य पदार्थों का खंडन मात्र किया गया है और अपना पक्ष नहीं रखा गया है। अपने इस ग्रंथ में श्रीहर्ष उदयनाचार्य के मतों का ही अधिकतर खंडन करते हैं, इसीलिए उनका समय उदयनाचार्य (1000 ई. के निकट) के बाद और श्रीवल्लभाचार्य से पहले माना जाता है। श्रीहर्ष स्वयं को कान्यकुब्जेश्वर की सभा का एक सम्मानित पंडित कहा है। कान्यकुब्ज के नरेशों में गोविन्दचन्द्र (1104–1154ई), उनके पुत्र विजयचन्द्र (1169 ई) और उनके पुत्र जयचन्द्र (1195 ई) से श्रीहर्ष का संबन्ध हो सकता है। श्रीहर्ष अपने इस ग्रंथ के परिशिष्ट में गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र की प्रशंसा करते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि श्रीहर्ष का समय 1169 ई के आसपास रहा होगा। इस ग्रंथ को प्रकाश में आने के बाद मैथिल नैयायिक इस ग्रंथ पर टीका लिखकर श्रीहर्ष के मतों का खंडन करते हैं तथा उदयनाचार्य का मत स्थापित करते हैं। मिथिला में श्रीहर्ष के विरोध में लिखने की परंपरा गंगेशापाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि तक ही नहीं अपितु गंगानाथ झा तक देखी जा सकती है। इस प्रकार उदयनाचार्य के बाद और श्रीवल्लभाचार्य से पहले के मैथिल नैयायिक श्रीहर्ष के मतों का खंडन करते हुए न्याय मत प्रतिपादित कर मध्ययुगीन न्याय के लिये ही नहीं अपितु नव्यन्याय के लिये भी पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इस ग्रंथ पर जितनी टीकायें हैं उनमें से अधिकांश टीकाये नैयायिकों ने लिखी है। नैयायिक टीका करते हुए श्रीहर्ष के मत का खंडन और न्यायमत स्थापित करते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि श्रीहर्ष के खंडनखंडखाद्य के प्रचार और प्रसार में वेदान्तियों की अपेक्षा नैयायिकों का योगदान अधिक है। इस तरह मिथिला में मध्ययुगीन न्याय–परंपरा का जन्म होता है। मध्ययुगीन न्यायपरंपरा के ग्रंथों में श्रीवल्लभाचार्य की न्यायलीलावती प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रीवल्लभाचार्य अपने पूर्ववर्ती नैयायिकों के मतों का ही नहीं अपितु अपना मत भी विकसित करते हैं।

मिथिला की न्यायपरंपरा में लखिमा रानी द्वारा लिखित पदार्थचन्द्र नामक न्याय के ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है।[4] लखिमा मिथिला के राजा शिव सिंह की पत्नी और विद्यापति के समकालीन थीं। उन्हें साहित्य और दर्शन दोनों में रुचि थी। विद्यापति उपने अनेक कविताओं में लखिमा का उल्लेख करते हैं। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि मिथिला की एक समृद्धशाली बौद्धिक परंपरा रही है जो अद्यतन विद्यमान है।

'मिथिला' एवं मिथिला की दार्शनिक परम्परायें

जिस भौगोलिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र को मिथिला कहा जाता है उसी भौगोलिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र को इतिहास के विभिन्न कालखंडों में विदेह या तीरभुक्ति या त्रिहुतम् कहते थे। इस क्षेत्र को आज भी तिरहुत के नाम से संबोधित किया जाता है। इस क्षेत्र में न्यायदर्शन का उदय वैदिक दर्शन और संस्कृति की रक्षा के लिये विदेह के राजा जनक के समय में हो चुका था। इससे मिथिला में न्यायदर्शन की प्राचीनता सिद्ध होती है। वाशम अपने पुस्तक में राजा जनक की ऐतिहासिकता स्थापित करते हैं। उनके अनुसार जनक एक ऐतिहासिक पुरुष थे और सन्यासियों तथा घुमक्कड़ दार्शनिकों को संरक्षण दिया करते थे। ये सन्यासी और घुमक्कड़ दार्शनिक उपनिषद् के रहस्यवाद के प्रतिपादक थे। राजा जनक स्वयं उन सन्यासियों और घुमक्कड़ दार्शनिकों के साथ शस्त्रार्थ किया करते थे।[5] मिथिला में न्यायदर्शन का बीजारोपण उसी समय में हो चुका था। चूँकि मिथिला को विदेह या तिरहुत भी कहा जाता है, अतः चर्चा के आरम्भ में 'विदेह' और 'तिरहुत' को स्पष्ट करना आवश्यक है।

विदेह –

राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार विदेह पूर्व में एक स्वतन्त्र राज्य था और साथ साथ वैदिक दर्शन एवं संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र भी था। जनक और याज्ञवल्क्य इस वैदिक दर्शन और संस्कृति के प्रमुख प्रवक्ता थे। मिथिला विदेह जनपद की राजधानी थी। निमि नामक राजा इस विदेह राज के संस्थापक थे। निमि विदेह के नाम से भी जाने जाते थे, इसीलिए उनके द्वारा स्थापित राज विदेह कहा गया। निमि के पुत्र मिथि जनक विदेह मिथिला जनपद के संस्थापक थे। जनक उनका उपनाम था और इसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उपनाम से विदेह के वंशज जाने जाते थे। आरम्भिक काल में मिथिला के राजा को विदेह, जनक या मैथिल कहा जाता था। मिथिला के चारों दिशाओं में द्वार पर चार व्यावसायिक नगर थे। जनकवंश के समय में विदेह एक स्वतन्त्र राज्य था और वहाँ राजतन्त्रीय व्यवस्था थी, परन्तु बाद में वह वज्जी गणराज्य का अंग हो गया। राधा कुमुद मुकर्जी कहते हैं कि बुद्ध के समय से पहले विदेह वज्जी संघ का एक गणराज्य था। वज्जीसंघ में विदेह गणराज्य के अतिरिक्त सात अन्य गणराज्य भी शामिल थे। इन आठों गणराज्यों में विदेह, ज्ञात्रिक, लिच्छवी और वज्जी प्रमुख थे। इसीलिए जैन साहित्यों में वज्जी को अट्ठकुल भी कहा गया है। बुद्ध के समय में मिथिला व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था। आरम्भ में यहाँ के राजा निष्काम रूप से राज किया करते थे और समाजकल्याण तथा लोककल्याण में लगे रहने से वहाँ के लोग उन्हें अत्यधिक आदर किया करते थे।[6]

इस क्षेत्र की कन्यायें सदाचार एवं सद्गुणों के लिये प्रसिद्ध थीं। वैदेही कन्याओं के सद्गुणों के कारण ही दूर देश के राजा यहाँ वैवाहिक संबन्ध स्थापित करना चाहते थे। अमितायुर्घ्यानसूत्र के अनुसार विदेह की वास्वी नामक कन्या सम्राट बिम्बिसार की एक पत्नी थी। जिस समय बिम्बिसार को उसका पुत्र अजातशत्रु कैद कर लिया था उस समय वैदेही वास्वी उसे छुप कर भोजन दिया करती थी और इस प्रकार बिम्बिसार के प्राण की रक्षा करती थी। महावीर वर्धमान की माता जो त्रिशला और प्रियकारिणि के नाम से प्रसिद्ध है विदेह की कन्या थी। त्रिशला या पृथकारिणि का एक नाम विदेहदत्ता भी था।[7]

चूँकि मिथिला विदेह राज की राजधानी थी, इसीलिए मिथिला विदेह के नाम से भी प्रसिद्ध है। विदेह विदेघ का अपभ्रंश रूप है। मिथिला के इतिहासकारों ने पुराण और रामायण के आधार पर विदेह राजाओं की तीन वंशावलियाँ प्रस्तुत की है। इन तीनों वंशावलियों में से दो में कराल को निमि का पुत्र और अन्तिम विदेह राजा कहा गया है। वेद, पुराण और अन्य धार्मिक ग्रंथों में विदेह की अत्यधिक चर्चा है। मिथिला के राजा विदेह कहे जाते थे। ईक्ष्वाकु के पुत्र निमि को मिथिला का प्रथम विदेह राजा कहा जाता है। विदेह राजाओं में सिरध्वज विदेह सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन काल में भी मैथिल और मिथिला के राजा ज्ञान और ज्ञान के प्रति अपने अनुराग के लिये जाने जाते थे। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद से यह स्पष्ट है कि यहाँ की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महिला भी विदुषी हुआ करती थी। वैदिक संस्कृति के विकास में विदेह के राजाओं और वहाँ के निवासियों का अत्याकि योगदान रहा है। यही कारण था कि मिथिला में न्याय और मीमांसा जैसे अस्तिक दर्शनों का उदय हुआ। न्यायशास्त्र के प्रणेता महर्षि गौतम निमि राजा के मुख्य पुरोहित थे। यहाँ के राजा सैनिक रूप से भी उतने ही सबल थे जितने मानसिक और आध्यात्मिक रूप से। अनेक नदियों से घिरा यह क्षेत्र उर्वरक होने से धन–धान्य से पूर्ण था। ऐसा कहा जाता है कि उस समय मैथिल अर्थिक रूप से भी उतने ही सबल थे जितना बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूप से।[8]

समय के साथ–साथ जनकवंश के परवर्ती राजा के स्वभाव में परिवर्तन हो गया। वे भोग–विलास में डूबे रहते थे और उन्हें समाज–कल्याण एवं लोक–कल्याण की चिन्ता नहीं थी। इससे समाज में राजा के प्रति विद्रोह होना स्वभाविक था। बौद्ध साहित्य एवं ब्राह्मण साहित्यों के आधार पर यह कहा गया है कि कराल जनक विदेह वंश के अन्तिम शासक थे। कराल जनक अत्यधिक क्रूर और कामुक थे। उन्होंने ब्राह्मण अविवाहित किशोरी से शारीरिक संबन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था। बाद के विदेह राजा प्रजा के हित की अपेक्षा स्वयं सुख सुविधा में रहना चाहते थे। अन्ततः प्रजा द्वारा कराल जनक की हत्या कर दी गयी। इस प्रकार मिथिला में जनकवंश के शासन का अन्त हो गया। अश्वघोष अपने बुद्धचरित में उक्त कथन का समर्थन करते हैं।[9] विदेह राज्य के निकट अवैदिक (नास्तिक) दर्शनों के प्रादुर्भाव के कारण विदेह की जनता इनके मतों से प्रभावित होकर जनक के विरोधी हो गये। कराल जनक की हत्या के साथ मिथिला में जनकवंश का अन्त और गणतन्त्र की स्थापना हुई। जैनसाहित्यों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्यों में भी विदेह को एक गणतान्त्रिक राज्य कहा गया है और उसे वज्जी संघ का एक प्रमुख अग माना गया है।[10]

विदेह और वज्जी गणराज्य –

ए एल वासम अपनी पुस्तक द वण्डर देट वाज इण्यिा में कहते हैं कि तत्कालीन साहित्यों में यूँ तो राम की चर्चा उतनी अधिक नहीं है, परन्तु उनके श्वसुर विदेह के राजा जनक का उल्लेख अनेक बार पाया जाता है। निश्चित रूप से वे एक ऐतिहासिक पुरुष थे और सन्यासियों तथा घुमक्कड़ दार्शनिकों के संरक्षक थे। ये सन्यासी और घुमक्कड़ दार्शनिक उपनिषद् के रहस्यवाद का प्रतिपादन किया करते थे। राजा जनक स्वयं उन दार्शनिकों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के साथ शस्त्रार्थ में भाग लेते थे। ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध के समय में जनकसाम्राज्य का अन्त हो गया था और इस प्रकार विदेह की राजधानी मिथिला का महत्त्व भी कम हो गया था। विदेह गणराज्य वज्जी संघ का अंग हो गया और लिच्छवी विदेह गणराज्य के प्रमुख हो गये।[11]

बुद्ध के समय में विदेह एक नया गणराज्य था और वह वज्जी गणराज्य का अंग था। बुद्ध स्वयं लिच्छवी आया करते थे और इस कारण से बौद्ध साहित्यों में लिच्छवी गणराज्य को अधिक महत्त्व दिये जाने से विदेह गणराज्य का महत्त्व लिच्छवी गणराज्य की तुलना में कम हो गया। इतिहासकारों का ध्यान भी विदेह गणराज्य की ओर नहीं गया। वास्तविक स्थिति यह थी कि विदेह गणराज्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि लिच्छवी गणराज्य। विदेह गणराज्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था। विदेह गणराज्य की राजधानी मिथिला हुआ करती थी।[12] विदेह गणराज्य का भूक्षेत्र विस्तृत था और वे अपने आन्तरिक मामलों में प्रशासनिक दृष्टि से विदेह गणराज्य स्वतन्त्र था। ऐसा कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिस आधार पर यह कहा जा सके कि लिच्छवी और विदेह गणराज्य का एक शासी–निकाय था। दोनों का अपना स्वतन्त्र शासी–निकाय था।[13] जनकवंश के बाद विदेह में गणराज्य की स्थापना से और बुद्ध तथा जैन दर्शनों के प्रभाव से वैदिकदर्शन (आस्तिक दर्शन) के समर्थक नैयायिकों की संख्या कम होने लगी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस समय मिथिला में वैदिकदर्शन पर विशेष रूप से न्याय पर चिन्तन नहीं हो रहा था। वात्स्यायन के न्यायसूत्रभाष्य में प्रयुक्त अनिश्चयवाचक सर्वनाम से सिद्ध होता है कि उनसे पहले भी न्यायसूत्र की व्याख्या की गयी थी जो ग्रंथ रूप में हमें आज उपलब्ध नहीं है।

वज्जी गणराज्य का क्रमिक पतन और लिच्छवी के प्रभुत्व की समाप्ति से भारतीय इतिहास में साम्राज्यवाद का युग आरम्भ होता है। गणराज्य में जन–कल्याण गणपरिषद् के अधीन हुआ करता था, परन्तु साम्राज्यवाद के उदय से यह सम्राट के अधीन हो गया। सम्राट अपनी राजनैतिक और सामाजिक महत्त्वाकांक्षा के अनुकूल समाज का निर्माण करने लगे। बिम्बिसार और उनके पुत्र अजातशत्रु से प्राचीन भारत में मगधसाम्राज्य का आरम्भ होता है। मगधसाम्राज्य का उदय गणराज्यों के अस्तित्व के लिये घातक था। गणराज्यों की रक्षा के लिये लिच्छवी सभी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गणराज्यों का एक संघ स्थापित किया था और बुद्ध के समय में वज्जी गणराज्य भी उस संघ का एक सदस्य था। सम्राट की आकांक्षा के अनुकूल समाज–निर्माण की व्यवस्था से बचने का गणराज्यों का यह अन्तिम प्रयास कहा जाता है।[14] मगधसाम्राजय की स्थापना से वज्जी में भी नई राजनैतिक वातावरण का उदय हुआ। विदेह के समय में मिथिला राजनैतिक घटनाओं का केन्द्र हुआ करता था और कराल जनक के बाद वज्जीगणराज्य की स्थापना से वैशाली राजनीति का केन्द्र हो गया। मगध साम्राज्य की स्थापना से राजगृह और तत्पश्चात् पाटलिपुत्र राजनीति के केन्द्र हो गये। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा कि हिरण्यवंश से लेकर शुगवंश से पहले तक के अधिकांश मगध सम्राट बौद्ध या जैन धर्म के अनुयायी थे। परिणामतः वे अपने साम्राज्य में बौद्ध या जैन धर्म को ही संरक्षण देते थे। वह समय वैदिकदर्शन के लिये अनुकूल समय नहीं कहा जा सकता है।[15] मगध साम्राज्य के मौर्यवंश से पूर्व लिच्छवी और वज्जी दोनों ही गणराज्यों का अन्त हो चुका था और दोनों ही गणराज्यों का विलय मगधसाम्राज्य में हो गया था।[16] विदेह के सीमावर्ती लिच्छवी गणराज्य था और बुद्ध वैशाली आया करते थे। लिच्छवी बुद्ध के मत से प्रभावित थे। उस समय मिथिला के निकटवर्त्ती प्रदेशों में जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, आजीविक दर्शन और अजीतकेश कम्बली का दर्शन प्रचलित था। इन चारों ही दर्शन के अपने अपने अनुयायी थे और वे सभी वेदविरोधी थे। इन दर्शनों के विपरीत हिन्दू न्यायदर्शन वेद और उपनिषद् की मान्यताओं पर आधारित था। वे वेद और उपनिषद् की मान्यताओं के अनुसार समाज को व्यवस्थित करना चाहते थे। परिणामतः हिन्दून्याय के अनुयायियों में और वेदविरोधी इन चारों संप्रदायों में सामंजस्य नहीं था। ये सभी एक स्वर से हिन्दून्याय का विरोध करते थे। वैसे इन चारों वेदविरोधी संप्रदायों में भी मतैक्य नहीं था। वे भी एक दूसरे के विरोधी थे और समाज पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे। इन नास्तिक संप्रदायों में समाज पर बौद्धों का सर्वाधिक प्रभाव था। ई. पू. 600 वर्ष के उत्तरार्ध में या ई. पू. 500 वर्ष में बुद्ध द्वारा बौद्ध सन्यासियों का समुदाय स्थापित किया जा चुका था। ये सन्यासी पीत वस्त्र धारण करते थे और बुद्ध को प्रबुद्ध कहा करते थे।[17] ये बौद्ध संन्यासी समाज में बुद्ध के मतों का प्रचार किया करते थे। कराल जनक की हत्या के बाद मिथिला के निकट नास्तिक संप्रदायों का मत प्रचलित होने से हिन्दून्याय का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। तत्कालीन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समाज और राजनैतिक व्यवस्था पर बौद्ध और जैनियों का ही बोल–बाला था। उस समय के अधिकांश राजा बौद्ध या जैन मत के अनुयायी थे। वे दोनों ही हिन्दून्याय और विशेष रूप से ब्राह्मण–कुलीनतन्त्र के विरोधी थे।[18] अपने आरम्भिक दिनों में ये नास्तिक संप्रदाय न्याय के विरोधी नहीं थे। वासम कहते हैं कि ऐसा ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं जिस आधार पर यह कहा जा सके कि आरम्भिक दिनों में बौद्ध हिन्दून्याय के विरोधी थे, परन्तु यह निर्विवाद है कि बौद्ध अन्य नास्तिक संप्रदाय जैसे जैन और आजीविक के विरोधी थे। अन्य नास्तिक संप्रदायों की तुलना में समाज पर बौद्धों का सर्वाधिक प्रभाव था। ये नास्तिक संप्रदाय अपने–अपने मतों को समाज में स्थापित करने के लिये प्रचार प्रसार किया करते थै। बुद्ध के समय में ही उनके द्वारा स्थापित समुदाय बुद्ध के उपदेश को सामान्य जनों में प्रचार किया करते थे। समाज के धनी वर्ग विशेष रूप से वणिक् बौद्ध मठों को दान दिया करते थे और बौद्ध मतों का अनुसरण करते थे। इस प्रकार बुद्ध एक नये धर्म का संस्थापक कहे जाने लगे। वासम कहते हैं कि बुद्ध के समय में जो भी स्थिति रही हो, परन्तु यह निश्चित है कि बुद्ध के 200 वर्ष बाद सम्राट अशोक के समय में बौद्धधर्म समाज में पूर्णरूप से व्याप्त था। सम्राट अशोक अपने साम्राज्य में प्रचलित धर्मों का सर्वेक्षण कराया था और उस सर्वेक्षण के आधार अपने साम्राज्य में प्रचलित धर्मों को पाँच वर्गों में विभाजित किया था– बौद्धधर्म, हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म, आजीवक, निर्ग्रन्थ (जैन) और अन्य। वे स्वयं बौद्धधर्म के अनुयायी ही नहीं अपितु प्रचारक भी थे। ऐसा कहा जाता है कि वे अन्य धर्मों का भी आदर करते थे। वे अपनी प्रजा से भी तदनुकूल भाव रखने का निर्देश दिया था।[19] मिथिला के निकट विकसित इन नास्तिक संप्रदायों की संक्षिप्त चर्चा तथा मिथिला की न्यायपरंपरा पर इनके प्रभावों की चर्चा आगे की जायेगी।

तिरहुत –

श्याम नारायण सिंह अपने हिस्ट्री ऑफ तिरहुत में कहते हैं कि आज के बिहार के गंगा के उत्तर दो राज्य हुआ करता था– वैशाली और मिथिला। उनके अनुसार दोनों की सीमा का विवरण स्पष्ट नहीं है। दोनों राज्यों को मिलाकर तीरभुक्ति कहा जाता था। तीरभुक्ति की भौगालिक सीमा आधुनिक तिरहुत की अपेक्षा अधिक विस्तृत थी।[20] यह ध्यान देने योग्य है कि मिथिला आज भी तीरभुक्ति या तिरहुत के नाम से जाना जाता है। प्राचीन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारत में तथा अनेक धर्मग्रंथों में तीरभुक्ति का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। ये ग्रंथ वैशाली और मिथिला राज्यों की सीमाओं का रेखांकन नहीं करते हैं। इन दोनों ही राज्यों को तीरभुंक्ति कहा जाता था। बृहद्–विष्णुपुराण के मिथिलाकाण्ड का उद्धरण देते हुए श्याम नारायण सिंह कहते हैं कि इस पुस्तक के अनुसार तिरहुत आधुनिक गंडक नदी से पूर्व, प्राचीन कोशी नदी से पश्चिम तथा गंगा से उत्तर हिमालय तक फैला हुआ है। इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तक 180 मील और उत्तर से दक्षिण तक 125 मील का क्षेत्र मिथिला के अन्तर्गत आता है। प्राचीन धर्म–ग्रंथ में और भारत के इतिहास में मिथिला की संस्कृति के आधार पर मिथिला की सीमा निर्धारित की गयी है। कौशिकी (प्राचीन कोसी) नदी से पश्चिम, शालीग्रामी या नारायणी (आधुनिक गंडकी) से पूर्व, हिमालय से दक्षिण, और गंगा से उत्तर का क्षेत्र मिथिला के अन्तर्गत आता है। पहले का मुजफ्फरपुर, दरभंगा, मुंगेर, भागलपुर और पूर्णिया का क्षेत्र मिथिला के अन्तर्गत आता था।[21] प्राचीन भारत के गुप्त काल में विदेह और वैशाली दोनों को तीरभुक्ति कहा जाता था। सीता के जन्मस्थान घनुखा में और जनकपुर में बलि प्रदान होने से परंपरया इस भूमि को तीरभुक्ति कहा जाता है। गुप्त काल में यह तीरभुक्ति गंगा तक फैली हुई थी। यह एक विस्तृत क्षेत्र था और गुप्तवंश के राजकुमार यहाँ के प्रशासनिक अधिकारी होते थे।[22]

उक्त व्याख्या के अतिरिक्त श्याम नारायण सिंह तीरभुक्ति की एक और व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। नदी के किनारे रहने वाले को सामान्यतः तीरभुक्ति कहा जाता है और तिरहुत तीरभुक्ति का ही अपभ्रंश रूप है। मिथिला में अनेक नदी होने से इन नदियों के किनारे रहने वाले को तीरभुक्ति कहा गया है। श्याम नारायण सिंह 'तीरभुक्ति' की तीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। (1) पंडित गंगानन्द झा की व्याख्या के अनुसार गंगा के तीर तक फैला हुआ क्षेत्र तीर–भुक्ति कहलाता है। (2) दूसरी व्याख्या पुरातात्त्विक व्याख्या है।[23] (3) कुछ विद्वान तिरहुत को त्रिहुतम् का अपभ्रंश भी मानते हैं। इस व्याख्या के अनुसार जिस क्षेत्र में तीन बलिप्रदान की गयी हो वह त्रिहुतम् कहलाता है।

राधाकृष्ण चौधरी के अनुसार मिथिला आरम्भ से ही वैदिक संस्कृति का केन्द्र माना जाता है। सांस्कृतिक सातत्य और अपनी बौद्धिक संपदा के प्रति विशेष स्नेह मिथिला की विशेषता है। सांस्कृतिक सातत्य ही इसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मा है। मिथिला अभी तक अपनी आत्मा को मरने नहीं दिया है। यही कारण है कि सामान्य मैथिल भी न्याय और उसके विषय–वस्तु से परिचित हैं। मिथिला विदेह राज्य की राजधानी थी और विदेघ माथव प्रथम राजा थे और उन्होंने ही मिथिला को आस्तिक दर्शनों का केन्द्र बनाया था।[24] मिथिला आस्तिक दर्शनों का केन्द्र होने से मिथिला के निकट जैन, बौद्ध, आजीविक, और चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शनों का भी उदय हुआ था। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि इन नास्तिक दर्शनों का उदय मिथिला के आस्तिक दर्शनों के विरोध में प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। परन्तु यह मत सभी इतिहासकारों को स्वीकार नहीं है। इन इतिहासकारों की मान्यता है कि आस्तिक दार्शनिक जैनियों के उतने विरोधी नहीं थे जितने कि बौद्धों के। आस्तिक दार्शनिक विशेष रूप से नैयायिक शताब्दियों तक बौद्ध मतों का खंडन करते रहे।[25]

मिथिला के निकट जैनदर्शन का उदय और मैथिल न्यायपरंपरा –

मिथिला के बौद्धिक , सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास को जैन एवं बौद्ध दर्शन दोनों ही प्रभावित किया है। ये दोनों ही ब्राह्मण कुलीनतन्त्र के विरोधी थे। परिणामतः मिथिला के न्यायदर्शन और अन्यान्य आस्तिक दर्शन का भी वे विरोधी थे। जिस समय मिथिला के निकट वर्धमान महावीर और महात्मा बुद्ध का अवतरण हुआ था उस समय मिथिला में आस्तिक दर्शनों और उन दर्शनों पर आधारित संस्कृति की प्रधानता थी। समाज में वेद और उपनिषद् के दर्शनों पर ही आभिजात्य ब्राह्मण चर्चा किया करते थे। वे समाज की व्यवस्थाओं के निर्धारक थे।[26] यह ध्यातव्य है कि उस समय में भी वेदानुयायी आस्तिक दार्शनिक दो संप्रदायों में विभक्त थे – दार्शनिको का वह समुदाय जो वादपद्धति विकसित कर रहे थे और वह समुदाय जो वैदिक कर्मकाण्ड को मानते थे। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा कि इन दोनों आस्तिक दार्शनिकों में भी विरोध था। मिथिला के इसी सामाजिक एवं बौद्धिक परिवेश में बुद्ध के समय में ही वैशाली में वर्धमान महावीर का जन्म हुआ। इसी कारण से वर्धमान महावीर को वेशालिये या वैशालिक भी कहा जाता है। उस समय वैशाली में तीन जिला हुआ करता था और उनका जन्म कुण्डग्राम में हुआ था। वर्धमान महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला थी। त्रिशला लिच्छवी के प्रमुख चेटक की बहन थी। त्रिशला विदेह की थी, इसीलिए उसे वैदेही या विदेहदत्ता भी कहा जाता था। उसी तरह वर्धमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महावीर को विदेह, वैदेहदत्ता, विदेहजात्य या विदेहसुकुमार कहा जाता था। सिद्धार्थ लिच्छवी के ज्ञात्रिक वर्ग के प्रमुख थे।[27] महावीर की पत्नी यशोदा बसन्तपुर गाँव के समन्तवीर की पुत्री थी। महावीर की पुत्री का नाम प्रियदर्शन था। वर्धमान महावीर पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित निर्ग्रन्थ समूह के मतों का अनुसरण करते थे। जैनधर्म में पार्श्वनाथ को तैसवाँ तीर्थंकर भी कहा जाता है। जैनदर्शन वेद का विरोध करता है इसीलिए इसे नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखा गया है। यह तीन नास्तिक दर्शनों में से एक है। यूँ तो जैन दर्शन का आविर्भाव वर्धमान महावीर से बहुत पहले हो चुका था, परन्तु वर्धमान महावीर को जैन धर्म के अनेक संस्थापकों में से एक माना जाता है। वे तीस वर्ष की अवस्था में ही सन्यास लेकर दिगम्बर होकर घूमने लगे थे। चौथी शताब्दी में भद्रबाहु अपने अनुयायियों के साथ मैसोर चले गये। जैनियों का वह समूह जो बिहार में रह गये वही श्वेतवस्त्र धारण करने लगे और वही श्वेताम्बर कहलाये। इस प्रकार जैन दार्शनिक दो संप्रदायों में विभाजित हो गये – दिगम्बर और श्वेताम्बर। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जैन के दोनों संप्रदायों का जन्म भी वैशली में ही हुआ था। जैनधर्म बौद्धधर्म से बिल्कुल ही भिन्न है। वर्धमान महावीर का उल्लेख बौद्ध साहित्यों में बुद्ध के विरोधी के रूप में किया गया है। इससे वर्धमान महावीर की ऐतिहासिकता भी प्रमाणित होती है।[28] आरम्भ में जैन दार्शनिक आचारण पर ही अधिक बल देते थे। वह एक आचारदर्शन मात्र था। परन्तु मिथिला की न्यायपरंपरा से प्रभावित होकर जैन भी अपना न्याय विकसित करने लगे। वर्धमान महावीर अपने अनुयायियों को न्यायशास्त्र अध्ययन करने के लिये प्रेरित करते थे। वे अपने अनुयायियों से कहते थे कि उन्हें भी अपनी तार्किक क्षमता एवं वाद करने की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिये। बौद्धसाहित्यों में यह कहा गया है कि निर्ग्रंथ समुदाय में कुछ मेधावी प्रतिवादी थे जो न्याय में भी निपुण थे।[29] मिथिला की न्यायपरंपरा से प्रभावित होकर 400 ई. के निकट जैन और बौद्ध दोनों ही अपने अपने मतों के समर्थन में अपना–अपना न्याय विकसित करने लगे और न्याय के विषय–वस्तु को गंभीरता से लेने लगे। अधिकांश जैन और बौद्ध न्यायों का ग्रंथ 400 ई. के बाद ही लिखा गया।[30] जैन नैयायिक सिद्धसेन दिवाकर का समय 533 ई. माना जाता है। उन्होंने न्यायावतार नामक जैनन्याय का ग्रंथ लिखा था। दिगम्बर संप्रदाय के प्रमुख नैयायिक समन्तभद्र का समय 600 ई. माना जाता है। उन्होंने उमास्वाती के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर महाभाष्य लिखा था। इस महाभाष्य का परिचयात्मक भाग देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा भी कहा जाता है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शनसंग्रह में विद्यानन्द का उल्लेख करते हैं। ये दिगम्बर संप्रदाय के नैयायिक थे और इनका समय 800 ई. माना जाता है। वे पाटलिपुत्र के निवासी थे। अष्टसाहश्री नामक इनका पुस्तक प्रसिद्ध है। अपने इस ग्रंथ में इन्होंने आस्तिक दर्शनों का खंडन किया है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शन संग्रह में विद्यानन्द का उल्लेख करते हैं।[31]

किसी भी धर्म एवं दर्शन का विकास समाज में तभी संभव है यदि उसे तत्कालिक राजा एवं प्रजा दोनों का समर्थन हो। किसी एक के भी विरोधी होने से उस धर्म एवं दर्शन का विकास उस समाज में संभव नहीं होता है। जैन साहित्यों के अनुसार विदेह, लिच्छवी, मल्ल सभी वर्धमान महावीर के भक्त एवं अनुयायी थे। कल्पसूत्र के अनुसार मल्ल–प्रधान और लिच्छवी सभी जिन के मृत्यु दिवस के अवसर पर उपवास रखते थे और दीप जलाया करते थे। पुनः मल्ल, ऊग्र, भोग, क्षत्रिय, लिच्छवी आदि राजा विदेह के अनिष्ठनेमि नामक राजा को भारवी नामक नगर में आगमन पर स्वागत के लिये गये थे। यही काशी और कोशल के गण–राजाओं के प्रसंग में भी कहा गया है। बिम्बिसार, नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य, संप्रति, खरवेला आदि अनेक राजा और महाराजा जैन के अनुयायी थे।[32] जैनियों को इन सभी राजाओं महाराजाओं का आश्रय प्राप्त था। वैसे जैन दार्शनिक आस्तिकों का विशेष रूप से मैथिल नैयायिकों का उस प्रकारक विरोधी नहीं थे जैसे कि बौद्ध थे। जैन दार्शनिक मिथिला में विकसित हिन्दून्याय के अतिरिक्त आस्तिकों की अनेक मान्यताओं को अपने दर्शन में समावेशित कर लिया था। यही कारण है कि आज भी जैन धर्म और दर्शन समाज में वर्तमान है। विदेह के नागरिक, लिच्छवी, और ज्ञात्रिक सभी वर्धमान महावीर के उपदेशों से प्रभावित थे। लिच्छवियों को जैनों के प्रति अत्यधिक आदर और सहानुभूति था।[33] चेतक की सात कन्याओं में से चेलणा नामक कन्या बिम्बिसार की पत्नी थी, परिणामतः बिम्बिसार भी जैनियों के साथ सहानुभूति रखते थे। चेतक की अन्य 6 कन्याओं का विवाह जिन जिन राजाओं के साथ हुआ था वे सभी जैन के अनुयायी थे। यह कहा जाता है कि पार्श्वनाथ स्वयं काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और वर्धमान महावीर भी राज–कुल के थे। सोलह महाजनपदों में से अट्ठकुल जिसके अन्तर्गत विदेह, लिच्छवी, ज्ञात्रिक और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विदेह प्रमुख थे सभी जैनमत के अनुयायी थे।[34] उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जिस समय मिथिला में हिन्दून्याय विकसित हो रहा था उसी समय मिथिला के निकटवर्त्ती क्षेत्र लिच्छवी में जैन मत भी विकसित हो रहा था। पीछे दिये गये संदर्भ की व्यख्या से स्पष्ट है कि वर्धमान महावीर मैथिल नैयायिकों की वाद और युक्ति गढ़ने की क्षमता से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने अपने अनुयायी से मैथिल नैयायिकों की क्षमताओं का अनुसरण करने की सलाह दी थी। जैन नैयायिक हिन्दून्याय के विषय–वस्तु को ग्रहण कर अपना न्याय विकसित करने लगे। जैनन्याय के ग्रंथों में मैथिल नैयायिक के मतों का एवं उन मतों के प्रतिपादन में दिये गये युक्तियों का खंडन अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु वैसा कटु विरोध देखने को नहीं मिलता है जैसा कि बौद्ध न्याय के ग्रंथों में देखने को मिलता है। जैन अनेकान्तवादी थे और अपने अनेकान्तवाद के कारण ही वे न्यायमत को भी संभाव्य मानते थे। जैन के विपरीत बौद्ध एकान्तवादी थे, परिणामतः वे न्याय के कटु आलोचक थे। मैथिल नैयायिकों के प्रति बौद्धों का विरोध मात्र सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं था अपितु व्यक्तिगत स्तर पर भी था। चन्द्रगुप्त मौर्य के अतिरिक्त अन्य सभी मौर्य शासक बौद्ध थे और इस कारण से मैथिल नैयायिक मौर्य शासकों के विरोधी हो गये और अन्ततः मगध से मौर्यवंश का नाश हो गया। आगे मिथिला के निकट बौद्धों का उदय और मैथिल नैयायिकों द्वारा बौद्ध मतों का खंडन स्पष्ट किया जायेगा।

बौद्धदर्शन के उदय का मैथिल न्यायपरंपरा पर प्रभाव –

विश्व–इतिहास पर दृष्टिपात करने से पाते हैं कि ई. पू. 6 शताब्दी विश्व में आध्यात्मिक अस्थिरता, बौद्धिक विक्षोभ, और उत्तेजना का समय था। मनुष्य विश्व की घटनाओं से चकित एवं उत्तेजित होकर उन घटनाओं की व्याख्या करने के लिये उत्तेजित था। मानव सभ्यता के इतिहास में यह शताब्दी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस शताब्दी में विश्व में एक नये युग का आरम्भ हो रहा था। इसीलिए इस काल को युगान्तर काल भी कहा जाता है। उसी समय में चीन में लाओ जू और कन्फ्यूसियस, ग्रीस में परमेनाईडीज और एम्पेडोकलस , ईरान में जेरेथुस्त्र , और भारत में महावीर तथा बुद्ध का आविर्भाव हुआ था। वे सभी विश्व की घटनाओं को अपने अपने मतानुसार व्याख्या कर रहे थे। विश्व में नये धर्म और दर्शनों का बीजारोपण हो रहा था। ये चिन्तक मानव सभ्यता को एक नई दिशा की ओर अग्रेषित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कर रहे थे।[35] विद्वानों एवं इतिहासकारों की मान्यता है कि बौद्धधर्म और दर्शन का उदय भी उसी भूभाग में हुआ था जहाँ वैदिक दर्शन का बोल–बाला था। इन इतिहासकारों का कहना है कि उपनिषद् के अतीन्द्रिय दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही समाज में बौद्धदर्शन का आविर्भाव हुआ था। उपनिषद् का परमात्मवादी दर्शन समाज के सामान्य जनों को बोधगम्य नहीं था और वह दर्शन समाज के सामान्य जनों से कट चुका था। समाज में इस आस्तिक धर्म और दर्शन के प्रति असंतोष एवं आक्रोश का वातावरण था। समाज एक ऐसा वैकल्पिक धर्म और दर्शन चाहता था जो उसके जीवन की सामान्य जिज्ञासा का उत्तर दे सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आस्तिक दर्शन ही बौद्धदर्शन को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होने के लिये उर्वरक भूमि तैयार किया था। यही कारण था कि बौद्धदर्शन का विकास भी उसी क्षेत्र में हुआ जिस क्षेत्र में वैदिक दर्शनों का सर्वाधिक प्रभाव था। महात्मा बुद्ध वैदिक सिद्धान्तों और कर्मकाण्डों के विरोधी थे। वे वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर उस समय समाज में प्रचलित आस्तिक दर्शन की मान्यताओं का विरोध करते थे। मानवता और नैतिकता पर आधारित महात्मा बुद्ध का दर्शन किसी भी प्रकारक अतीन्द्रिय सत्ता या तत्त्वमीमांसा का समर्थन नहीं करता था। वे वैदिक दर्शन पर आधारित प्रवृत्तिमूलक सिद्धान्तों के समर्थन में मिथिला में विकसित न्यायदर्शन के लक्ष्य के भी विरोधी थे। बुद्ध की आरम्भिक मान्यताओं में अतीन्द्रिय और पराभौतिक सत्ताओं का स्थान नहीं था। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता होता है।[36]

गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के लुम्बिनि गाँव में हुआ था। उनके पिता राजा सुदोधन कपिलवस्तु के राजा थे। उनके माता का नाम माया और पत्नी का नाम यशोधरा थी। गौतम बुद्ध के समय में मगध साम्राज्य अस्तित्व में आ चुका था। हिरण्यकवंश के प्रथम सम्राट बिम्बिसार गौतम बुद्ध के समकालीन थे। उस समय बिम्बिसार गिरिव्रज में रहते थे और वहीं गौतम के सन्यास से सात वर्ष पूर्व गौतम की पहली मुलाकात सम्राट बिम्बिसार से हुई थी। उस समय गौतम को बुद्ध नहीं कहा जाता था। बाद में सम्राट बिम्बिसार गिरिव्रज से राजगृह चले आये। पहली मुलाकात में ही सम्राट बिम्बिसार गौतम से उतने अधिक प्रभावित हुए कि वे उन्हें अत्यधिक सम्पत्ति दान देकर उन सम्पत्तियों का स्वामी बना दिया था। उतना ही नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्राट बिम्बिसार बुद्ध और उनके शिष्यों के स्वास्थ्य की देख भाल के लिये जीवक नामक अपना व्यक्तिगत वैद्य भी नियुक्ति किया था। पुनः सम्राट बिम्बिसार की आज्ञा से बुद्ध और उनके अनुयायी को गंगा पार करने के लिये नाविकों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था।[37]

गौतम सन्यासी के रूप में बोध–गया में पीपल के वृक्ष के नीचे तपस्यारत थे और वहीं उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। मध्यम मार्ग के प्रतिपादक भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण 80 वर्ष की अवस्था में कुशीनगर में हुआ था। उन्हें शक्य मुनि के नाम से भी जाना जाता है। बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद भगवान बुद्ध सारनाथ में उपदेश दिया था और वहीं उन्होंने बौद्ध संन्यासियों का संघ स्थापित किया था। इस प्रकार भिक्षु–व्यवस्था और बौद्धविहारों की स्थापना हुई और उन व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये जनतान्त्रिक व्यवस्था का भी जन्म हुआ। बुद्ध के समय में या उससे पहले विश्व जनतान्त्रिक व्यवस्था से परिचित नहीं था। भगवान बुद्ध ने ही इस विश्व को जनतन्त्र की अवधारणा और उस व्यवस्था से समाज को चलाने के प्रयोग से परिचित कराया था। बौद्धविहार एवं संघ की व्यवस्था जनतान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित थी। जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर मानव समूह को परिचालित करने की व्यवस्था की अवधारणा बुद्ध का एक अपूर्व उपहार कहा जा सकता है। बुद्ध से पहले इस प्रकारक धार्मिक निकाय की संभावना विश्व में सोची तक नहीं गयी थी।[38] बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्धों का प्रथम सम्मेलन राजगृह में. द्वितीय सम्मेलन ई.पू. 383 वर्ष में वैशाली में, और तृतीय सम्मेलन ई. पू. 225 वर्ष में पाटलिपुत्र में हुआ था।

बुद्ध और वर्धमान महावीर के समय में उस क्षेत्र की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन हो रहा था। वह समय उस क्षेत्र के लिये संक्रान्ति काल था। बुद्ध के मत पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था समाज में लोकप्रिय हो रही थी। अतएव यह प्रश्न उठता है कि बुद्ध द्वारा गठित नई सामाजिक व्यवस्था मिथिला के बुद्धिजीवियों को किस प्रकार से प्रभावित किया ? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं – एक उत्तर तो यह है कि मिथिला एवं मिथिला के बुद्धिजीवी सफलतापूर्वक स्वयं को इस नई व्यवस्था से बचाकर रखा। यह कहा जाता है कि उस स्थिति में भी मिथिला का हिन्दू समाज पूर्ण रूप से स्थिर और शांत रहा। मिथिला उस नई सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था से प्रभावित नहीं हुआ।[39] दूसरा उत्तर यह है कि उस समय में भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिथिला और वैशाली भौगोलिक एवं राजनैतिक रूप से एक ही था। बौद्ध और जैन साहित्यों में दोनों को एक कहा गया है। विदेह के अन्तर्गत ही वैशाली भी था। अतएव यह संभव नहीं है कि वैशाली में तो बौद्ध का प्रभाव हो और मिथिला में नहीं। मिथिला भी निश्चित रूप से इस नई सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित हुई होगी। उस समय के साहित्य से यह स्पष्ट है कि मिथिला भी उस नई व्यवस्था से प्रभावित थी।[40]

मिथिला उस समय पूर्व और पश्चिम दो खंडों में विभाजित था। गंडकी से पश्चिम मिथिला का पश्चिमी भाग और गंडकी से पूर्व मिथिला का पूर्वी भाग था। यह सत्य है कि बौद्ध–काल के आरम्भिक दिनों में संपूर्ण मिथिला बौद्ध के प्रभाव से आन्दोलित था, परन्तु मिथिला का पूर्वी भाग जिसे आज मिथिला के नाम से जानते हैं वह भाग बौद्ध मत एवं धर्म से प्रभावित नहीं हुआ। बौद्ध वैदिक दर्शन और संस्कृति को सभी दिशाओं से प्रहार करने लगे और इससे वैदिक दर्शन और संस्कृति का आधार हिलने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि मैथिल नैयायिक जो उस समय शांत बैठे हुए थे वे भी बौद्धों के चतुर्दिक प्रहारों के विरोध में और वैदिक दर्शन पर आधारित संस्कृति की रक्षा के लिये लिखने लगे।[41] मैथिल नैयायिक और बौद्ध नैयायिक के इस वाद और प्रतिवाद से भारतीय चिन्तन परंपरा में एक नये युग का आरम्भ हुआ था। बुद्ध के समय में ही नैयायिकों और बौद्धों के बीच ज्ञान और तर्क पर आधारित शास्त्रार्थ परंपरा का आरम्भ हो गया था। ये चिन्तक एक दूसरे के मतों में दोष दिखाने के लिये आपस में शास्त्रार्थ किया करते थे। शास्त्रार्थ खुले रूप से सभी के समक्ष हुआ करता था। जिस संप्रदाय के अनुयायी शास्त्रार्थ में अपने विरोधी संप्रदाय को पराजित करते थे वह संप्रदाय समाज में प्रतिष्ठा अर्जित करते थे। उसी संप्रदाय का मत समाज में मान्य होता था। बौद्धों और नैयायिकों का यह शास्त्रार्थ खुली सभा में आयोजित की जाती थी। देश के अनेक भागों से पंडित इस सभा में भाग लेते थे। परिणामतः विजित संप्रदाय का यश देश के अन्य भागों में भी फैल जाता था। सभा में उपस्थित पंडित विजित पक्ष के अनुयायी हो जाते थे।[42] बुद्ध को सामाजिक पटल पर आने से समाज में एक प्रकारक अस्थिरता और बौद्धिक अराजकता का वातावारण था। शास्त्रार्थ की परंपरा और सामाजिक अस्थिरता तथा बौद्धिक अराजकता के बीच ही महर्षि गौतम द्वारा न्यायसूत्र को सही रूप से व्यवस्थापित किया गया था।[43] इस प्रकार बुद्ध के समय में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही बौद्ध दर्शन के साथ साथ मिथिला में न्याय दर्शन का भी विकास होने लगा। इस वाद और प्रतिवाद से न्याय और बौद्ध दोनों परंपराओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। एक ओर जहाँ बौद्ध न्याय की परंपरा का जन्म हुआ वहीं मिथिला में वैदिक न्याय की परंपरा का विकास हुआ। इस प्रकार मिथिला वैदिक न्याय की जन्मस्थली हो गयी।[44] मिथिला के पश्चमी भाग वज्जी भी मैथिल नैयायिकों द्वारा बौद्ध मतों के खंडन के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इस क्षेत्र के बौद्धों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वज्जीपुत्तक भिक्षुओं का और वैशाली के नागरिकों का मनोबल टूट गया और वे ऐसा आचरण करने लगे जो बाद में जाकर बौद्ध के लिये घातक सिद्ध हुआ। वज्जीपुत्तक भिक्षु द्वारा निर्धारित आचरणों की परीक्षा के लिये वैशाली में बौद्ध–प्रधानों ने 700 भिक्षुओं का सम्मेलन बुलाकार वज्जीपुत्तक भिक्षु के मतों की मान्यताओं को अमान्य घोषित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गंडकी के पश्चिम भी बौद्ध मतावलम्बी नहीं रहे। अनेक कारणों से बौद्ध न्याय की परंपरा समाप्त हो गयी, परन्तु मिथिला अभी भी अपनी न्याय–परंपरा को सहेज कर रखी हुई है।

जैसा आगे कहा जायेगा कि मगध साम्राज्य के संस्थापक बिम्बिसार से लेकर मौर्य वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ तक सभी शासक या तो जैन धर्म के अनुयायी थे या पुनः बौद्ध धर्म के। चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्राट अशोक के अतिरिक्त अन्य सभी सम्राट आस्तिक धर्म और दर्शन के विरोधी थे। चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीबन के पूर्वार्द्ध में कौटिल्य के प्रभाव में आस्तिक धर्म और दर्शन का अनुसरण करते थे और आस्तिक दर्शन पर आधारित सामाजिक और राजकीय व्यवस्था के आधार पर समाज को संचालित करते थे। वही व्यवस्था राज्यसंचालन का नियामक था। जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य कौटिल्य के समय में वैदिक दर्शन की उपेक्षा नहीं करते थे, परन्तु वे भी जीवन के उत्तरार्ध में जैन धर्म के अनुयायी हो गये। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद मौर्य शासक बौद्ध या जैन मतों के आधार पर ही समाज को परिचालित करते थे। मौर्यवंश के बाद मगध में शुंगवंश का शासन आरम्भ होता है। शुंगवंश के शासक आस्तिक धर्म और दर्शन के अनुयायी थे। पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण थे और उनके समय में बौद्धों को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं था। पुष्यमित्र शूंग के ही समय में वात्स्यायन का आविर्भाव हुआ और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्यायसूत्रोपरि भाष्य लिखा गया था।[45] भारत के इतिहास में शुंगकाल आस्तिक दर्शन के पुनरावर्त्तन का काल कहा गया है। शुंग सम्राटों के समय में आस्तिक दर्शनों पर अनेक ग्रंथ लिखे गये और हिन्दू संस्किृति का पुनर्जागरण हुआ। शुंगवंश के शासन काल में बौद्धों को राज्य का आश्रय नहीं था और साम्राज्य में आस्तिकवादी दार्शनिक बौद्धों के स्थान पर आ गये थे। यही कारण है कि पुष्यमित्र शुंग को बौद्धों का संहारक भी कहा जाता है। बिम्बिसार से लेकर शुंगवंश के पहले का समय आस्तिक दर्शन के लिये प्रतिकूल था। पुनः शुंगवंश के बाद गुप्तवंश से पहले का समय भी आस्तिक दर्शन के लिये प्रतिकूल ही था।

मैथिल नैयायिक विपरीत राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में भी अपने सिद्धान्तों को विकसित करते रहे और बौद्ध धर्म एवं दर्शन का विरोध करते रहे। यह सर्वविदित है कि सम्राट अशोक स्वयं बौद्ध हो गये थे और वे अपने साम्राज्य में ही नहीं अपितु अपने साम्राज्य से बाहर भी बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार किया था। सम्राट अशोक भी बौद्ध दर्शन के विरोध में मिथिला के आस्तिक दार्शनिकों की प्रतिक्रिया का उत्तर देने में पूर्ण सक्षम नहीं रहे। कुछ लोगों की मान्यता है कि अशोक मगध और तिरहुत (वैशाली) के बौद्ध पुरोहितों को बौद्धधर्म के प्रचार के लिये तिब्बत भेजा था।[46] जो भी हो उस समय भी मैथिल बौद्धधर्म के विरोधी और कटु आलोचक थे। ऐसा कहा जाता है कि मिथिला के अस्तिक दार्शनिकों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही मगध साम्राज्य का अन्त हो गया।[47]

अशोक के बाद भी समाज पर बौद्धों का प्रभाव रहा और बौद्ध दर्शन के प्रभाव से आस्तिक दर्शन के विकास की गति धीमी हो गयी थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज से आस्तिकों का लोप हो गया था। शूंग के बाद गौतमीपुत्र शतकर्णी का शासन था। यद्यपि वे स्वयं हिन्दू थे तथापि वे बौद्ध संस्थाओं को खुलकर वित्तीय सहायता और दान दिया करते थे। यह उस समय के साहित्यों और कलाकृतियों से स्पष्ट होता है।[48] उद्योतकर के न्यायभाष्यवार्त्तिकम् के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले भी न्यायभाष्य एवं न्यायसूत्र की व्याख्या की गयी थी। वे सभी पुस्तक इस समय प्रकाश में नहीं है।

आगे कहा जायेगा कि सम्राट कनिष्क का समय बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का स्वर्णिम युग था। कनिष्क बौद्ध धर्म और दर्शन के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महान संरक्षक थे और उनका अनेक शीर्शस्थ बौद्ध विचारकों से संबन्ध था। ये विचारक बाद में जाकर बौद्ध धर्म और दर्शन के दिशा–निर्देशक हो गये। कनिष्क के समय में बौद्ध कला–कृतियों का भी अत्यधिक विकास हुआ। इस विकास प्रक्रिया में कनिष्क का योगदान अभूतपूर्व था। उनके समय में बौद्ध कला की गांधार पद्धति का विकास हुआ था। बौद्ध कला की यह पद्धति इण्डो–ग्रीक पद्धति के नाम से भी जानी जाती है। महायान नामक बौद्ध दर्शन का विकास भी उन्हीं के समय में हुआ था और वे बौद्ध परिषद् के तृतीय महासम्मेलन के आयोजक भी थे।[49] आगे यह भी चर्चा की जायेगी कि इस परिवेश में भी मिथिला की न्यायपरंपरा और वैदिक संस्कृति का अन्त नहीं हुआ था।

गुप्तकाल में मिथिला गुप्तवंश के शासकों के अधीन था। गुप्तवंश के शासक यद्यापि स्वयं भागवत धर्म के अनुयायी थे, तथापि वे बौद्धों को भी प्रोत्साहित किया करते थे। ऐतिहासिक साक्ष्य एवं चीनी यात्रियों के अभिलेखों के आधर पर इतिहासकार पाँचवीं शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी के मध्य तक मिथिला में बौद्ध धर्म और दर्शन की स्थिति का आकलन करते हुए कहते हैं कि गुप्तवंश के शासक बौद्धों के प्रति भी आकर्षित थे। गुप्तकाल में नालन्दा और वल्लभी बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था और ये केन्द्र धर्मिक एवं शैक्षिक रूप से पूर्ण सक्रिय थे। सम्राट हर्ष बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म को और अधिक प्रचारित किया था।[50] राज्य द्वारा पोषित होने के उपरान्त भी बौद्ध, मिथिला के नैयायिकों के कारण, मैथिलों को बौद्ध धर्म में परिवर्तित नहीं कर सके। बौद्ध और नैयायिक दोनों अपनी पूर्ण ऊर्जा के साथ एक दूसरे से वाद–विवाद किया करते थे। कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार वे बौद्ध नैययिक जो हिन्दू नैयायिकों के बौद्धिक प्रहार से आहत थे वे पराजित होकर अपनी जन्मभूमि से क्रमिक रूप से भागने लगे। उनका प्रभाव काश्मीर के स्वात घाटी और उत्तर भारत के वल्लभी तक सीमित रह गया था।[51] उस समय सम्राट हर्ष के संरक्षण के उपरान्त भी उस क्षेत्र से बौद्ध धर्म और दर्शन का लोप आरम्भ हो चुका था। उस क्षेत्र से बौद्धधर्म और दर्शन विलोपित होने लगा। उपेन्द्र ठाकुर चीनी यात्री य्वान स्वांग के विवरण के आधार पर कहते हैं कि 635 ई. में यह चीनी यात्री वैशाली और मिथिला का भ्रमण किया था। इस चीनी यात्री के अनुसार इन क्षेत्रों में बौद्धधर्म और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन अधोगति की दिशा में जा रहा था और उस समय वैशाली में दिगम्बर जैनियों की संख्या अधिक थी। मिथिला, काशी और प्रयाग में आस्तिक दार्शनिकों का प्रभाव था। यही कारण है कि ग्यान स्वांग अपनी यात्रा के विवरण में भारत को ब्राह्मणों का देश कहते हैं।[52] इस चीनी यात्री के विवरण के अनुसार हर्ष की मृत्यु के बाद हर्ष का मंत्री अर्जुन (अर्जुनाश्व) स्वयं को तिरहुत का राजा घोषित कर दिया। उस समय बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में मृतप्राय हो चुका था। उसी समय में बौद्ध धर्म के द्वितीय चीनी प्रचारक का मिथिला में आगमन हुआ था। अर्जुन बौद्ध धर्म के द्वितीय चीनी प्रचारक को अपमानित कर घायल कर दिया था और वह चीनी प्रचारक भागकर नेपाल चला गया था। यह ध्यातव्य हो कि उस समय नेपाली और तिब्बती राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी और समर्थक थे। इन राजाओं के सहयोग से वह चीनी प्रचारक 1200 सैनिकों और 7000 घुड़सवारों से तिरहुत पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में तिरहुत के ब्राह्मण राजा और अनेक ब्राह्मणों की उसने क्रूरता से हत्या कर दी थी।[53] मिथिला में ऐसा कहा जाता है कि जब बौद्ध मैथिलों से शास्त्रार्थ में पराजित हो जाते थे और नैयायिकों को उत्तर देने में असमर्थ हो जाते थे तब वे शास्त्र के स्थान पर शस्त्र का प्रयोग करते थे। परन्तु इन सभी घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि उस क्षेत्र से बौद्ध धर्म और दर्शन विलुप्त हो गया। उसी समय में बिहार और बंगाल में पाल शासकों का उदय होता है। ये पाल शासक बौद्ध थे और बौद्ध तान्त्रिक समुदाय के अनुयायी थे। उनके समय में बौद्ध दर्शन में तन्त्र का आगमन हो चुका था। ये बौद्ध वाममार्गी तान्त्रिक होते थे। यह शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्त्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशान्ति के ग्रंथों से भी स्पष्ट होता है। पाल शासकों के समय की कलाकृति मिथिला के क्षेत्र में भी पायी जाती है। पाल वंश के शासन काल में नालन्दा को अत्यधिक दान दिया गया। इतना ही नहीं, उन्हीं के समय में विक्रमशिला विश्वविद्यालय, ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय और सोमपुरी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी जो 600 वर्षों तक चलता रहा। बाद में मुस्लिम आक्रान्ता बख्तियार खिलजी उन विश्वविद्यालयों को नष्ट कर दिया था। इस प्रकार उस क्षेत्र से बौद्ध धर्म और दर्शन की समाप्ति हो गयी।[54]

आजीविक –

जिस समय इस क्षेत्र में बौद्ध और जैन संस्कृति का विकास हो रहा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था उसी समय इस क्षेत्र में तीसरा नास्तिक संप्रदाय आजीविक का भी उदय हुआ था। चूँकि आजीविक वेद के सिद्धान्तों को अस्वीकार करते थे, इसीलिए इन्हें नास्तिक की कोटि में रखा जाता है। आजीविक श्रमण हुआ करते थे और निवृत्तिमर्गी थे। इनके विपरीत नैयायिक प्रवृत्तिमार्गी थे। इससे मैथिल नैयायिक और आजीविकों में मतभेद था। आजीविक नियतिवादी थे और वे नैयायिकों के अनेक सिद्धान्तों का खंडन करते थे। वे वैदिकदर्शन के विरोधी थे। गोशाल मस्करीपुत्र इस आजीविक संप्रदाय के अनुयायी थे। जैन और बौद्ध साहित्यों में कहा गया है कि गोशाल का जन्म सभ्रान्त परिवार में हुआ था। जैनियों की आचार संहिता की भाँति आजीविकों की आचारसंहिता भी अत्यधिक कठोर थी। आजीविक और जैन में एक समानता यह थी कि दोनों ही अपने पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते थे। वासम कहते हैं कि ये आजीविक पूर्ण रूपेण नग्न रहा करते थे। गोशाल महावीर के समकालीन थे। जीवन के पूर्वार्द्ध में गोशाल को वर्धमान महावीर के साथ मित्रता थी परन्तु बाद में उन दोनों में विरोध हो गया। स्रावस्ती में गोशाल को महावीर के साथ भयंकर विवाद हुआ और वही विवाद ई. पू. 487 वर्ष में गोशाल की मृत्यु का कारण बन गया।[55] बुद्ध, महावीर और गोशाल तीनों ही अवैदिक और अनीश्वरवादी दार्शनिक थे। समाज में इन तीनों ही संप्रदायों के अपने अपने अनुयायी थे। आरम्भ में इन तीनों का मत धर्म का रूप नहीं लिया था, परन्तु बाद में बुद्ध और जैन का मत धर्म का रूप ले लिया। आजीविक का कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। बुद्ध और जैन साहित्यों में ही उनके मतों का यत्र–तत्र उल्लेख है। उन्हीं साहित्यों की सहायता से अजीविक के मतों का पुनरालेखन किया गया है। आजीविक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और वे नियतिवादी दार्शनिक थे। वे नियतिवादी होने से कर्म का सिद्धान्त भी नहीं मानते थे। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार हमारा वर्तमान भूत के कर्म से तथा भविष्य वर्तमान के कर्म से निर्धारित होता है। आजीविक कार्य–कारण सिद्धान्त को नहीं मानते थे। न्याय–वैशेषिक के प्रमेय सिद्धान्त के विरोधी आजीविक की मान्यता थी कि संपूर्ण विश्व – ब्रह्माण्ड से लेकर अणु पर्यन्त – तक का संचालन नियति से ही होता है। इस नियति को किसी भी प्रकार से प्रभावित करना असंभव है। वही होना है जो नियति है। फलतः आगे के जन्म की नियति को प्रभावित करना भी असंभव है।[56] आजीविक अपने नियतिवाद को स्थापित करने के लिये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गौतमीय न्यायसूत्र का विरोध करते रहे क्योंकि वे किसी भी प्रकार से कार्य–कारण के सिद्धान्त को नहीं मानते थे तथा प्रमेयशास्त्र के विरोधी थे। मौर्य शासन के काल में आजीविक का दर्शन उस क्षेत्र में अधिकों द्वारा ग्राह्य था। सम्राट अशोक और उनके वंशज आजीविकों को अनेक गुफायें दान दी थी, परन्तु कालान्तर में आजीविक संप्रदाय का उस क्षेत्र से अन्त हो गया। चौदहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में आजीविक का मत जीवित था, परन्तु उसके बाद आजीविक की चर्चा नहीं है।[57] बुद्ध के समय के सभी भारतीय दार्शनिक चार महाभूतों (पृथिवी, वायु, अग्नि और जल) की कल्पना कर चुके थे। उनके अनुसार यह विश्व– ब्रह्माण्ड – इन्हीं चार महाभूतों से बना हुआ है। बाद में जाकर हिन्दू दार्शनिक (विशेष रूप से न्याय) और जैन दार्शनिक उनमें आकाश को भी सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार पंच महाभूतों की कल्पना की गयी। नैयायिकों के अनुसार वायु का विस्तार अनन्त तक नहीं है और न शून्य प्रदेश की कल्पना संभव है, इसीलिए आकाश की कल्पना की गयी। ये पंच महाभूत हमारे पाँचों इन्द्रियों के विषय के आश्रय हैं। जैसे पृथिवी घ्राण का, वायु स्पर्श का, तेज या अग्नि रूप का, जल स्वाद का, और आकाश शब्द का आश्रय है। बौद्ध और आजीविक न्याय के इस मत से सहमत नहीं हैं। आजीविक न्याय के आकाश को खंडित कर जीवन, सुख और दुःख को समन्वित करते हैं। इस प्रकार न्याय के पंच महाभूत के विरोध में आजीविक के अनुसार सात महाभूत हैं।[58]

आजीविक अवैदिक थे परन्तु वे भौतिकवादी नहीं थे। दर्शन के ये तीनों नास्तिक संप्रदाय किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म में विश्वास करते थे और आस्तिक दर्शनों की अनेक मान्यताओं को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते थे। इन्हीं तीनों के समकालीन इस क्षेत्र में अजीत केशकम्बली का आविर्भाव भी हुआ था। अजीत केशकम्बली पूर्ण रूप से भौतिकवादी थे। हिन्दू, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने अपने अपने सहित्यों में उनके मतों का उल्लेख करते हुए उनके मतों का खंडन करते हैं। वासम के अनुसार अजीत केशकम्बली का भी अपना एक संप्रदाय था और दर्शन के अन्यान्य संप्रदाय उन्हें चार्वाक कहा करते थे। इन सभी नास्तिक दर्शनों का और चार्वाक के दर्शन का आधार उस क्षेत्र में ई. पू. 600 वर्ष से पहले ही निर्मित हो चुका था। उस अवधि में समाज पर वैदिक दर्शन प्रभावी था। परन्तु समाज के सभी वर्ग वैदिक दर्शन से सहमत नहीं थे और यही अवैदिक दर्शनों के उदय का कारण भी बन गया।[59]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिथिला में बौद्धकाल और आस्तिक दर्शन का काल –

इतिहासकार बौद्ध–काल और आस्तिक दर्शन के काल में भेद करते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बौद्ध–काल में न्यायसूत्र की व्याख्या नहीं हुई हो। यह सत्य है कि सम्राट बिम्बिसार से लेकर मौर्यवंश के शासनकाल तक समाज पर बौद्धधर्म और जैनधर्म ही प्रभावी था। मौर्यवंश के शासक अशोक के समय में देश और विदेश में बौद्धधर्म का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ , परन्तु उस समय में भी मिथिला में न्यायसूत्र की व्याख्या की जा रही थी। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के दिशा–निर्देशक ही नहीं अपितु अभिभावक भी थे। कौटिल्य के अनुसार ही चन्द्रगुप्त राज्य का संचालन किया करते थे। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी का लक्षण करते हैं और उसका अध्ययन राजा के लिये आवश्यक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के संरक्षण में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आन्वीक्षिकी की अवहेलना नहीं हुई थी। जैसा आगे कहा जायेगा कि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में कौटिल्य के समक्ष आन्वीक्षिकी पर वाद विवाद होता था और चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं भी उस शास्त्रार्थ में भाग लेता था। कौटिल्य समाज को वैदिक दर्शन के अनुसार चलाने के पक्षधर थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र सम्राट अशोक को सभी धर्मों का त्राता कहा जाता है और उनके समय में भी गौतमीय न्यायदर्शन की व्याख्या की जा रही थी। यह वात्स्यायन के न्यायभाष्य से स्पष्ट होता है। वस्तुतः गौतमीय न्यायदर्शन की व्याख्या की परंपरा ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से ही माना जाना चाहिये। रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार शास्त्र की व्याख्या करने की प्रवृत्ति का आरम्भ मौर्यवंश के पतन (ई. पू. 180 वर्ष) के बाद ही दिखायी देने लगी थी। सम्राट अशोक के बाद मौर्य शासन दिनानुदिन दुर्बल होता गया और इस प्रकार बौद्ध एवं जैन चिन्तन का समाज पर प्रभाव भी कम होता गया। इससे मिथिला में वैदिक दर्शन का पुनरुत्थान हुआ। दिनकर अपने संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में लिखते हैं कि "यह मानना अधिक युक्ति–युक्त है कि वैदिक धर्म का जो रूप हम गुप्त–काल में देखते हैं , उसकी तैयारी ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के तीन सौ वर्ष बाद तक की पाँच सदियों में हुई थी। किन्तु , इस काल को इतिहास में प्रमुखता नहीं दी जाती है, जिसका मुख्य कारण यह है कि उस समय देश में कोई सबल केन्द्रिय सत्ता नहीं थी।[60] दिनकर अपने इस पुस्तक में आगे लिखते हैं कि "मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का समय हिन्दुत्व के उत्थान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल मानना चाहिये।"[61]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इतिहास और परंपरा में भेद –

'इतिहास' और 'परंपरा' दोनों एक नहीं हैं। दोनों भिन्न विषय होने से ही शीर्षक में 'परंपरा' पद का प्रयोग किया है। इतिहास का विषय किसी व्यक्ति या देश या समाज या समुदाय के भूत से संबन्धित होता है। वर्तमान या भविष्य इतिहास का विषय नहीं होता है। इतिहास में भूत के तथ्यों या घटनाओं का उद्‌घाटन किया जाता है। इस अर्थ में इतिहास अन्य विषय से भिन्न हो जाता है। इतिहास उस वृक्ष का मूल है जिस वृक्ष से राजनीति फल रूप में प्राप्त होता है। इतिहास के उक्त लक्षण से ही इतिहास की पद्धति निर्धारित होती है। चूँकि इतिहास भूत को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, इसीलिए उसे पूर्ण विश्वसनीयता के साथ भूत को हमारे समक्ष प्रस्तुत करना चाहिये। इतिहास एक ऐसा दर्पण है जिसमें भूत जैसा था वैसा ही प्रतिबिम्बित होता है। इतिहास का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि भूत जैसा था वैसा ही वह हमारे समक्ष प्रतिबिम्बित करे और भूत की घटनाओं को स्वयं अपने विषय में बोलने दे। इतिहास अपने ही विषय से बंधित होता है , इसीलिए उसे भूत को संशोधित या परिवर्धित करके प्रस्तुत नहीं करना चाहिये।[62] इससे यह स्पष्ट है कि इतिहासकारों को भूत के विषय की व्याख्या नहीं करनी चाहिये। व्याख्या मात्र परंपरा में ही संभव है इतिहास में नहीं। इसके विपरीत 'परम्परा' पद 'परम्' और 'अपरम्' पद के योग से बना है। एक के बाद दूसरे का आना ही परंपरा है। दोनों में पूर्वानुपर और उत्तरोत्तर सम्बन्ध होता है तथा दोनों एक दूसरे से अविच्छिन्न होने से एक शृंखला का निर्माण करते हैं तथा सातत्य पाया जाता है। वही शृंखला परम्परा कहलाती है। अभी भी मिथिला में नैयायिक हैं, इसीलिए 'परंपरा' पद का प्रयोग उचित है।

मिथिला में विकसित न्याय की परंपरा सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के चिन्तन को प्रभावित किया है। मिथिला अपनी भौगोलिक सीमा के कारण और अनेक नदियों से घिरे होने के कारण विदेशी आक्रान्ताओं से मुक्त था। यह क्षेत्र विदेशी आक्रान्ताओं से मुक्त होने से तथा धन–धान्य से पूर्ण होने से विद्या–अध्ययन का केन्द्र था और मिथिला में अन्य प्रान्तों से विद्वान् अध्ययन हेतु आते थे। इससे यहाँ न्यायशास्त्र ही नहीं अपितु अन्य शास्त्रों का भी विकास हुआ। बंगाल से अनेक पंडित शास्त्र के अध्ययन के लिये मिथिला आते थे। इससे मिथिला की संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव बंगाल पर देखा जाता है।[63]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिथिला में शास्त्रीय और लैकिक दर्शन की परम्परा –

मिथिला युगों से भारतीय दर्शन और संस्कृति का केन्द्र रहा है। मिथिला में आर्य की सभ्यता के आरम्भिक दिनों से अद्यर्प्यन्त दार्शनिक और सांस्कृतिक सातत्य पाया जाता है। आज भी मिथिला दर्शन और अपनी संस्कृति के लिये जाना जाता है। मिथिला की प्राचीन दर्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा अभी तक जनजीवन के मानस में सुरक्षित है। मिथिला विदेह की राजधानी थी और विदेघ माथव विदेह के प्रथम राजा थे। विदेह माथव इस परिसर में आस्तिक दर्शन एवं मिथिला की संस्कृति के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं।[64] मैथिल अर्थोपार्जन से अधिक महत्त्व विद्योपार्जन को देते हैं। जनक विदेह भी अर्थोपार्जन की अपेक्षा अपने राज्य में दर्शन और संस्कृति को ही अधिक प्रश्रय देते थे। इसी का यह परिणाम है कि मिथिला में अनेक प्रकारक वैदिक दर्शनों के साथ साथ साहित्य , व्याकरण , और अनेक प्रकारक विद्याओं का विकास हुआ। विदेह मिथिला में वैदिक संस्कृति के विकास के लिये यथा संभव प्रयास करते रहे। विदेह की इस भूमिका के कारण ही मिथिला में महर्षि गौतम, याज्ञवल्क्य जैसे दार्शनिकों के साथ साथ मैत्रेयी जैसे विदुषी का भी जन्म हुआ। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में मिथिला भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में संपूर्ण भारतवर्ष में प्रसिद्ध था और देश के सभी क्षेत्रों से यहाँ विद्यानुरागी न्यायशास्त्र के अध्ययन हेतु आया करते थे। इस समय में मिथिला मात्र न्याय के लिये ही नहीं अपितु राजनीति, साहित्य, और व्याकरण के लिये भी प्रसिद्ध था। इस समय में यहाँ गंगेशोपाध्याय, यज्ञपति और पक्षधर ही नहीं, अपितु ज्योतिरीश्वर, चण्डेश्वर और महाकवि विद्यापति का भी जन्म हुआ था।

मिथिला की दार्शनिक परम्परा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – शास्त्रीय दर्शन की परम्परा और लैकिक दर्शन की परम्परा। मिथिला की ये दोनों ही परंपरा एक दूसरे के पूरक हैं। न्याय लोकव्यवहार और वाह्य जगत को अपने दर्शन में महत्त्व देता है और उसे दर्शन के पदावली में व्यक्त करता है। न्याय की प्रमाणमीमांसा लौकिक व्यवहार और वाह्य जगत पर आधारित होने से मिथिला के लौकिक दर्शन पर न्याय का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। मिथिला का यह लौकिक दर्शन विद्यापति के लोकगीत, यहाँ के शास्त्राचार्यों और नायकों की गाथा, कथा और लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। लौकिक दर्शन की परम्परा भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिथिला में उतना ही प्रबल है जितना कि शास्त्रीय दर्शन की परम्परा। ये दोनों ही परम्परायें एक दूसरे को प्रभावित किया है। शास्त्राचार्यों तथा लोकनायकों की गाथा और कथा समाज को प्रभावित करते आ रहा है, जिससे शास्त्रीय परंपरा की उत्पत्ति हुई है। मैथिल मिथिला के पूर्ववर्त्ती आचार्यों एवं लोकनायकों की जीवन पद्धति एवं चरित्र का अनुसरण करते हैं और इससे मिथिला में लौकिक परंपरा की उत्पत्ति हुई है। ये आचार्य और लोकनायक मैथिल समाज के आदर्श पुरुष होते हैं।

इस आलेख की विषयवस्तु लौकिक दर्शन की परम्परा नहीं अपितु शास्त्रीय परंपरा है। न्याय–वैशेषिक की परम्परा और मीमांसा की परम्परा मिथिला की शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। मिथिला में न्यायदर्शन की यात्रा महर्षि गौतम के न्यायसूत्र से आरम्भ होती है और अद्यपर्यन्त चली आ रही है। दर्शन की परंपरा में विश्व में संभवतः यही एक परंपरा है जो ईसा से कम से कम 600 वर्ष पूर्व से आरम्भ होकर अभी तक चली आ रही है। मिथिला में न्यायदर्शन की यात्रा का सर्वेक्षण अत्यधिक रोचक और आकर्षक है। न्याय ज्ञान, सत्य और अन्तिम सत्ता का ही अन्वेषण नहीं करता अपितु मानवमस्तिष्क की सभी बौद्धिक समस्याओं पर विचार करता है। महर्षि गौतम से लेकर गंगेश उपाध्याय तक न्याय–वैशेषिक और मीमांसादर्शन दोनों ही परम्परायें निर्बाध गति से चलती रही। ये दोनों मिथला की अपनी बौद्धिक सम्पदा है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मिथिला न्याय–वैशेषिक एवं मीमांसा के तीनों संप्रदायों की उत्पत्ति–स्थली है। मीमांसा के तीन संप्रदाय हैं। कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, और मुरारी मिश्र मीमांसा के तीनों संप्रदायों के संस्थापक हैं और इन तीनों का प्रादुर्भाव मिथिला में हुआ था।[65] मीमांसादर्शन की भी यहाँ समृद्धशाली परम्परा रही है। परन्तु मीमांसा दर्शन न्याय–वैशेषिक का पूर्वपक्ष होने से और न्याय–वैशेषिक परम्परा अधिक बलवती होने से गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि के अवतरण के बाद मीमांसा की परम्परा मिथिला से ही नहीं अपितु पूरे भारतीय उपमहाद्वीप से समाप्त हो गयी। मिथिला के इन दोनों दार्शनिक परम्पराओं में न्याय की परम्परा अद्यावधि मिथिला में चली आ रही है। मिथिला के इस न्याय–परम्परा का प्रभाव भारत के अन्यान्य दार्शनिक चिन्तनों पर भी देखा जा सकता है। तेरहवीं , चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में मिथिला की यह बौद्धिक परंपरा अपने उत्कर्ष पर थी और मिथिला की इस गौरवमयी परम्परा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की प्रसिद्धि देश के अन्य शैक्षिक केन्द्रों तक फैला हुआ था। इस प्रसिद्धि को देखते हुए देश के कोने कोने से छात्र भरतीय ज्ञान–विज्ञान और विशेष रूप से न्याय के अध्ययन के लिये मिथिला आते थे और यहाँ से जाने के बाद मिथिला की प्रसिद्धि अपने साथ ले जाते थे। यहाँ दूर देश से विद्वान् न्याय का अध्ययन करने के लिये आते थे।[66] चूँकि मिथिला की न्यायपरंपरा का इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है इसीलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि कब और कैसे न्याय और वैशेषिक एक दूसरे से सम्बद्ध हो गये। न्यायभाष्य और उसके बाद के सभी न्याय के ग्रंथों में वैशेषिक की प्रमेय व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। वैशेषिक की पदार्थ व्यवस्था को नैयायिक सर्वत्र स्वीकार करते हैं। वैसे बहुत ऐसे तत्त्वमीमांसीय (जैसे पीलुपाक और पिठरपाक) और प्रमाणमीमांसीय (जैसे न्याय चार प्रमाण और वैशेषिक दो प्रमाण स्वीकार करते हैं) बिन्दुयें हैं जहाँ न्याय और वैशेषिक एक दूसरे से भिन्न भी हो जाते हैं। अभी तक के ज्ञान के आधार पर दोनों दर्शनों को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता है। यही कहना पर्याप्त होगा कि न्याय स्वयं को तर्कशास्त्र एवं पद्धति के रूप में विकसित किया है और वैशेषिक न्याय की तत्त्वमीमांसा को विकसित किया है।

न्यायशास्त्र का तात्पर्य –

मिथिला में न्यायशास्त्र का प्रादुर्भाव शास्त्रार्थ करने की पद्धति के रूप में, शास्त्रार्थ में वाद और प्रतिवाद करने की पद्धति के रूप में हुआ था। शास्त्रज्ञ वैदिक वाक्यों का सही अर्थ के निर्धारण के लिये शास्त्रार्थ किया करते थे और इसीलिए शास्त्रार्थ करने की पद्धति निर्धारित करना आवश्यक हो गया था। दर्शन के अन्यान्य संप्रदाय भी अपने अपने मतों को स्थापित करने के लिये तथा दूसरे के मतों में दोष दिखाने के लिये शास्त्रार्थ किया करते थे। शास्त्रार्थ की परंपरा उपनिषद् काल में समाज में पूर्ण प्रचलित थी। शास्त्रार्थ करने की पद्धति वाद–विद्या या वाद–पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। न्यायशास्त्र मूलरूप से वादपद्धति के रूप में विकसित किया गया था और उस काल में भी यह अध्ययन का विषय था।[67] समाज में वर्तमान विभिन्न प्रकारक दार्शनिक मान्यताओं के कारण बौद्धिक अशांति और विप्लव की स्थिति थी। मिथिला के निकट वैसे सभी दार्शनिक संप्रदाय येन केन प्रकारेण समाज में अपना अपना मत स्थापित करना चाहते थे। उस समय मिथिला में दर्शन की विभिन्न विरोधी धारायें एक दूसरे को शास्त्रार्थ के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

माध्यम से विरोध किया करते थे। यह वादपद्धति पूर्व में श्रुत–परंपरा से चली आ रही थी। श्रुत–परंपरा में विचलन की संभावना से इस वादविद्या को अक्षपाद गौतम ने सूत्रबद्ध कर न्यायसूत्र के रूप में लिखा था।[68] मैथिल वैदिक दर्शन की तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर अत्यधिक शास्त्रार्थ किया करते थे। इसीलिए शास्त्रार्थ की पद्धति विकसित करना अनिवार्य था जिससे कि शास्त्रार्थ अनुशासित रूप में किया जा सके। महर्षि गौतम न्यायसूत्र नामक ग्रंथ का प्रणयन कर इस वादविद्या के प्रवर्तक कहे जाने लगे। इस वादविद्या का प्रयोग मात्र हिन्दू ही नहीं अपितु जैन और बौद्ध दार्शनिक भी शास्त्रार्थ के लिये करते थे।[69] यही वादविद्या आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या के नाम से जानी जाती है। इस वादविद्या से या आन्वीक्षिकी से विद्वत्परिषद् में शास्त्रार्थ करने का नियम निर्धारित किया जाता था। कालान्तर में यही आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्र कहलाने लगा। यह ध्यान देने योग्य है कि न्यायशास्त्र ईश्वरशास्त्र नहीं है। इस शास्त्र का संबन्ध तर्कशास्त्र या ज्ञानमीमांसा मात्र से है। इस तर्कशास्त्रीय या ज्ञानमीमांसीय शास्त्र को बाद में धर्म के साथ संबद्ध कर दिया गया। कहने का अभिप्राय यह था कि निःश्रेयस के लिये तार्किक और स्पष्ट चिन्तन आवश्यक है और मात्र इस अर्थ में न्यायशास्त्र निःश्रेयस के साथ संबद्ध है। न्यायशास्त्र मूल रूप से तर्क करने की और शास्त्रार्थी को अनुशासित करने की एक प्रणाली मात्र है।[70]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी आन्वीक्षिकी का उल्लेख है। वे अपने अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी को सभी विद्याओं का प्रदीप , सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय कहा है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूर्व विद्यमान था। न्यायशास्त्र एक समग्र दार्शनिक तन्त्र के रूप में भारतीय विचार–पद्धति को अद्यावधि एक साँचा प्रदान करता है। अनुभव या आप्तपुरुष से प्राप्त ज्ञान का अनुमान से परीक्षा करना अन्वीक्षा, और अन्वीक्षा पर आधारित शास्त्र आन्वीक्षिकी, या न्यायविद्या, या न्यायशास्त्र कहलाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और महाभारत में भी हमें इस शास्त्र का उल्लेख मिलता है। मनु और कौटिल्य को भी इस न्यायशास्त्र का ज्ञान था। इससे न्यायशास्त्र के इतिहास की प्राचीनता सिद्ध होती है। न्यायशास्त्र के इतिहास को ऐतिहासिक दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया गया है – प्राचीन, मध्ययुगीन और नव्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राचीन न्याय की निम्नलिखित तीन विशेषतायें हैं – (1) गौतमीय न्याय में प्रतिपादित मतों और संरचनाओं का पूर्ण रूप से पालन करना (2) वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा का अनुसरण और पालन करना तथा (3) बौद्ध के विज्ञानवाद और मीमांसा के मतों का खंडन करना। आरम्भ में नैयायिक बौद्धों और मीमांसकों के साथ वाद विवाद करते थे। इससे इन तीनों दर्शनों का बौद्धिक विकास होता रहा। उद्योतकर के समय में काश्मीर में भी न्यायशास्त्र का विकास हुआ। काश्मीर में न्यायशास्त्र का विकास होने से इस न्यायशास्त्र का प्रभाव कश्मीर में विकसित काव्यशास्त्र, घ्वनिशास्त्र, व्याकरण और शैव दर्शन पर भी देखने को मिलता है।

नैयायिक मूलतः शैव होते हैं। नैयायिक के अनुसार शिव से ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, वही इस ब्रह्माण्ड की रचयिता, पालनकर्ता, एवं संहारक हैं। जैन मुनि मलधारी राजशेखर सूरि नैयायिक को शैव कहते हुए कहते हैं कि नैयायिक नग्न रहते थे, जटा रखते थे और शरीर पर भस्म का लेप लगाते थे। जैन मुनि के इस मत में जो भी सत्यता हो, यह तो निश्चित है कि नैयायिक सामान्यतः शिव के उपासक होते हैं। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम को शिव के अवतार सोम शर्मा का पुत्र कहा जाता है। भाष्यकार भी सूत्र संख्या 4–1–16 और 22 में ईश्वर का वह रूप प्रस्तुत करते हैं जो महेश्वर शिव को ही कहा जा सकता है। महर्षि गौतम और वात्स्यायन को जिस किसी भी ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रहा हो यह निश्चित है कि उद्योतकर और उनके परवर्त्ती अधिकांश मैथिल नैयायिक शैव थे। उद्योतकर अपने वार्तिक में स्वयं को पाशुपताचार्य कहते हैं। वाचस्पति मिश्र शिव (पिनाकी) की आराधना से तात्पर्यटीका का आरम्भ करते हैं। उदयनाचार्य और गंगेश उपाध्याय भी शिव की स्तुति से अपना ग्रंथ आरम्भ करते हैं। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मैथिल नैयायिक शैव होते थे।

मैथिल समाज में अन्यान्य दर्शनों की अपेक्षा न्यायशास्त्र अधिक लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियता के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं – न्याय का वादविद्या या वादपद्धति होना, भारतीय दर्शन के सभी संप्रदायों द्वारा इस वादपद्धति का अनुसरण करना। इस प्रकार न्यायशास्त्र सभी विद्यओं का प्रदीप, सभी धर्मों का आश्रय और सभी कर्मों का आश्रय कहलाया। दूसरा कारण यह भी है कि न्याय वैदिकदर्शन को स्वीकार करने के साथ साथ अवैदिक दर्शनों को खंडित भी करता है। न्याय वेद को स्वीकर करता है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह एक सर्वमान्य विद्या के रूप में समाज को स्वीकार था। अन्ततः नैयायिक को शैव होना इस शास्त्र को मिथिला में लोकप्रिय बना दिया।[71]

पाश्चात्य तर्कशास्त्र से पूर्व मिथिला में न्याय वर्तमान था –

ए एल वाशम अपनी पुस्तक 'द वन्डर दैट वाज इन्डिया' के उपोद्‌घात में छठी शताब्दी के महान सीरियन ज्योतिषी सेवेरस सेवोख्त का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि सेवेरस सेवोख्त के अनुसार ग्रीक तर्कशास्त्रियों से बहुत पहले प्राचीन काल में भारतीय ज्ञान–विज्ञान एवं संस्कृति उपने उत्कर्ष पर थी। सेवेरस सेवोख्त हिन्दुओं के तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, और अन्य विधाओं के ज्ञान का पूर्ण वर्णन करने के बाद कहते हैं कि अब वे हिन्दू के ज्ञान–विज्ञान का और अधिक वर्णन नहीं करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि भारतीयों द्वारा ज्योतिषविद्या के अन्तर्गत किये गये खोज ग्रीक और बेबीलोनियन द्वारा किये गये खोज से कहीं अधिक तथ्य के अविसंवादी हैं। ग्रीक और बेबीलोनियन की खोजें उतना अधिक सटीक नहीं हैं जितना कि भारतीयों का है। सेवोख्त आगे कहते हैं कि भारत में विकसित गणितशास्त्र और गणितीय आकलन की पद्धति की प्रशंसा शब्दों में करना संभव नहीं है। वे आगे कहते हैं कि यदि ग्रीक यह मानते हैं कि उन्हें ही इन शास्त्रों का ज्ञान है, क्योंकि वे ग्रीक बोलते हैं और ग्रीक भाषा में निपुण हैं तो बाद में जाकर उन्हें यह ज्ञान होगा कि ग्रीक नहीं बोलने वालों को भी इन शास्त्रों का वैसा ही ज्ञान है जैसा कि ग्रीक को। सेवोख्त के इन कथनों से स्पष्ट है कि जिस समय ग्राक में तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र और अन्य विद्याओं का विकास हो रहा था उस समय भारत में, विशेष रूप से भारत के सीमावर्ती क्षेत्र में, तर्कशास्त्र और अन्य विद्याओं का विकास हो चुका था।[72] यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि विश्व के सभी देशों में मात्र हिन्दू और ग्रीक एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से अपना अपना तर्कशास्त्र का विकास किया है। ईशा से छः शताब्दी पूर्व बुद्ध के समय में हिन्दू अपना तर्कशास्त्र विकसित कर चुके थे। ग्रीक तर्कशास्त्र का विकास ईसा से चार शताब्दी पूर्व हुआ था। यह सत्य है कि ग्रीक तर्कशास्त्र का बीज चार शताब्दी से कुछ पूर्व सॉफिस्ट और सुकरात के बीच के विवाद में पाया जाता है। परन्तु ग्रीक तर्कशास्त्र का विकास ईसा से चार शताब्दी पहले ही हुआ था। इस दृष्टि से मिथिला की न्यायपरंपरा ग्रीक के तर्कशास्त्र की परंपरा से अधिक प्राचीन कही जा सकती है।[73] थोमस ट्राउटमैन वाशम की इस पुस्तक का तृतीय संस्करण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का परिचय लिखते हुए कहते हैं कि वाशम को यह ज्ञान था कि भारतीय तर्कशास्त्र जिसका विकास भारत में ईसा से छः शताब्दी पूर्व हो चुका था उस तर्कशास्त्र की परंपरा आज भी भारत में विद्यमान है। इसीलिए वे अपने पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त भूतकाल बोधक 'वाज' शब्द से संतुष्ट नहीं थे। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वाशम की यह पुस्तक उस सिरीज के अन्तर्गत प्रकाशित हुई थी जिस सिरीज में ग्रीस, इजीप्ट, रोम, और बेबीलोन की सभ्यताओं पर आधारित पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं। सिरीज के अन्य पुस्तकों के शीर्षक की भाँति इस पुस्तक के शीर्षक में भी 'वाज' पद का प्रयोग हुआ है। वास्तिविकता यह है कि वाशम अपनी पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त भूतकाल बोधक 'वाज' शब्द से संतुष्ट नहीं थे। शीर्षक में 'वाज' शब्द का प्रयोग प्रकाशक द्वारा उन पर थोपा गया था । यह तथ्य थोमस ट्राउटमेन उस पुस्तक की अपनी प्रस्तावना में उद्घाटित करते हैं। थोमस ट्राउटमेन लिखते हैं कि वाशम के अनुसार भारत में प्राचीन समय से अद्यतन सांस्कृतिक तारतम्यता और सातत्य बनी हुई है , परन्तु ग्रीस, इजीप्ट, रोम और बेबीलोन की सभ्यता नष्ट हो चुकी है। यही कारण है कि वाशम पुस्तक के शीर्षक में भूतकाल वाचक 'वाज' शब्द के प्रयोग से असंतुष्ट थे, और उन्होंने उपशीर्षक का प्रयोग किया है। मिथिला और उसके निकटवर्ती क्षेत्र के इसी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में प्राचीन न्याय का आगमन होता है।

मिथिला में प्राचीनन्याय का आगमन

महर्षि गौतम –

राधाकृष्ण चौधरी पुराण के आधार पर कहते हैं कि मिथिला के न्मि नामक राजा अपने यज्ञ में वशिष्ठ के स्थान पर गौतम को पुरोहित के रूप में नियुक्त किया था। गौतम की पत्नी का नाम अहिल्या था और वह उत्तर पंचाल की थी। आज भी मिथिला में गौतमस्थान और अहल्यास्थान वर्तमान है। मिथिला में अहल्या को देवी के रूप में पूजा जाता है और गौतमस्थान में प्रति वर्ष मेला लगता है।[74]

न्यायशास्त्र का प्रथम ग्रंथ न्यायसूत्र के नाम से जाना जाता है। इस पुस्तक के तीन प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण कलकत्ता के एशियाटिक सोसायटी से, द्वितीय संस्करण दरभंगा के मिथिला शोध संस्थान से और तृतीय संस्करण भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकाशित है। यह कहना उचित होगा कि भारत के सभी दर्शनों को आरम्भ में सूत्र रूप में ही लिखा गया था। सूत्र की व्याख्या के क्रम में ही भारतीय दर्शन का विकास हुआ है। इसीलिए महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज कहते हैं कि अन्य भारतीय विधाओं की भाँति न्यायशास्त्र भी पहले सूत्र रूप में ही लिखा गया था। अक्षपाद जो गोतम या गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं, इस न्यायशास्त्र को सूत्रबद्ध किया था।[75] महर्षि गौतम न्यायसूत्र के अतिरिक्त गौतम धर्मसूत्र और पितृमेधासूत्र के भी प्रणेता माने जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने न्यायसूत्र का प्रथम अध्याय मात्र ही लिखा था। अन्य अध्याय कालान्तर में लिखा गया। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज महामहोपाध्याय डॉ. सतीश चन्द्र विद्याभूषण का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि महर्षि गौतम मिथिला के निवासी थे और उनका समय ईसा पूर्व छः शताब्दी था। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज भी उन्हें गौतम बुद्ध के समकालीन मानते हैं।[76] मिथिला में न्याय–परंपरा का आरम्भ महर्षि गौतम से ही माना जाता है। श्याम नारायण सिंह अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ तिरहुत में कहते हैं कि महर्षि गौतम का समय निश्चित रूप से निर्धारित करना संभव नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि वे ईसा से कम से कम पाँच शताब्दी पहले मिथिला में हो चुके थे। उनके समय में भी मिथिला न्याय का केन्द्र था और महर्षि गौतम अपना अधिकांश समय मिथिला में बिताया था।[77]

किसी भी शास्त्र का विकास आरम्भ में वाचिक रूप से ही होता है, इसीलिए यह संभव है कि आरम्भ में न्यायशास्त्र भी वाचिक रूप में ही रहा हो और कालान्तर में इस शास्त्र को सूत्रबद्ध कर लिखित रूप में व्यक्त किया गया हो। जो भी हो महर्षि गौतम को ही न्यायशास्त्र का प्रणेता माना जाता है। महर्षि गौतम के समय के प्रसंग में अनेक मत हैं। महामहोध्याय गोपीनाथ कविराज महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा के द न्यायसूत्र ऑफ गौतम के प्रथम खंड की भूमिका में महर्षि गौतम के काल का निर्धारण करते हुए सात मत प्रस्तुत करते हैं और अन्ततः कहते हैं कि महामहोपाध्याय डॉ. सतीश चन्द्र विद्याभूषण का मत ही मान्य होना चाहिये।[78] महामहोपाध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण और महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा का कथन है कि महर्षि गौतम मिथिला के निवासी थे और बुद्ध के समकालीन थे।

ऐसा कहा जाता है कि दरभंगा से 28 मील उत्तर–पूर्व गौतम स्थान नामक एक गाँव है जहाँ ईसा से 550 वर्ष पूर्व महर्षि गौतम का आश्रम हुआ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करता था। यहाँ एक मिट्टी का टिला अभी भी वर्तमान है और उसी टिला पर उनका आश्रम था। इस टिला के समीप एक कुण्ड है जिसे गौतम–कुण्ड कहा जाता है। इस कुण्ड के जल का स्वाद दूध जैसा होने से इसे क्षीरोदधि या खीरोई कहा जाता है। यह खिरोई अभी भी है। महर्षि गौतम अपने आश्रम में उपनी पत्नी अहिल्या के साथ रहते थे और आज भी उनके आश्रम के निकट अहिल्या स्थान है। इस गाँव में प्रति वर्ष मार्च या अप्रैल माह में मेला लगता है।[79] अहिल्या के प्रसंग में मिथिला में अनेक किंवदन्ति है जिसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

महर्षि गौतम को अक्षपाद भी कहा जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन और वार्त्तिककार उद्योतकर भी अक्षपाद को ही न्यायसूत्र का प्रणेता मानते हैं। भाष्यकार अपने न्यायसूत्रोपरि भाष्य के अन्त में लिखते हैं कि न्यायसूत्र अपने मौलिक रूप में अक्षपाद से पूर्व वर्तमान था। वे कहते हैं कि अक्षपाद का न्याय जो पूर्व में प्रकाशित था और उस प्रकाशित न्याय को ऋषि अक्षपाद अच्छे ढंग से व्यक्त किया है। वे उस अक्षपाद रचित न्याय पर भाष्य लिख रहे हैं।[80] वार्त्तिककार उद्योतकर भी कहते हैं कि वे प्रवर मुनि अक्षपाद जिसने न्यायसूत्र को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है उस अक्षपाद रचित न्यायसूत्र को कुतार्किकों के अज्ञान की निवृत्ति के लिये यह वार्त्तिक लिख रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि वार्त्तिककार से पहले बौद्ध अपना न्याय विकसित कर चुके थे और ये बौद्ध नैयायिक हिन्दू न्याय का विरोध किया करते थे, इसीलिए वार्त्तिककार बौद्ध नैयायिक को कुतार्किक कहते हैं।[81] वार्त्तिककार उद्योतकर का उल्लेख करते समय यह कहा जायेगा कि उद्योतकर से पहले भाष्य की अनेक व्याख्या उपलब्ध थी। कुछ लोगों का मत है कि गौतम और अक्षपाद एक ही व्यक्ति का नाम नहीं था। वे दोनों भिन्न व्यक्ति थे। परन्तु यह मत मान्य नहीं है। विश्वनाथ अपने न्यायसूत्रवृत्ति में न्यायसूत्र को गोतमसूत्र कहते हैं। महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर अपने न्यायकोश में गौतम को ही अक्षपाद कहते हैं। गौतम की मेधा को देखते हुए ही कहा जाता है कि उनके पाँव में आँख था और इसीलिए उन्हें अक्षपाद कहा जाने लगा। महर्षि गौतम का समय ई.पू. 600 वर्ष माना जाता है और वात्स्यायन का समय ई.पू. 200 वर्ष। दोनों में समय के अन्तराल के कारण भाष्यकार अक्षपाद का प्रयोग करते हैं। अनन्तलाल ठाकुर भी न्याय दर्शन को गौतम प्रणीत ही कहते हैं, इसीलिए वे 'गौतमीयन्यायदर्शनम्' प्रयोग करते हैं। उक्त चर्चा से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्पष्ट है कि महर्षि गौतम से पूर्व मिथिला में न्यायदर्शन वाचिक रूप में प्रचलित था और महर्षि गौतम ही सर्वप्रथम न्यायदर्शन को व्यवस्थित कर सूत्रबद्ध कया था।

द्रष्टव्य है कि महर्षि गौतम का समय ई.पू. 600 वर्ष माना जाता है और वात्स्यायन का समय ई.पू. 200 वर्ष के निकट माना जाता है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या 400 वर्षों तक मिथिला में अस्तिक दर्शन विशेष रूप से न्यायशास्त्र पर चिन्तन नहीं हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना समीचीन है कि भाष्यकार से पूर्व भी मिथिला में न्यायसूत्र की अन्यान्य व्याख्या उपलब्ध थी।

महर्षि गौतम के समय में मिथिला के निकट गौतम बुद्ध, वर्धमान महावीर, आजीविक और अजीत केशकम्बली का आविर्भाव हो चुका था और वे सभी आस्तिक दर्शन विशेष रूप से न्याय के विरोधी थे। न्याय दर्शन और इन नास्तिक दार्शनिकों के बीच का विरोध आरम्भ हो चुका था। यह कहना चाहिये कि नास्तिक दार्शनिकों का विकास उस क्षेत्र में आस्तिकों के कारण ही हुआ था। आस्तिक दार्शनिक भी इन नास्तिकों का विरोध करते रहे। इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि उस समय न्याय का विकास नहीं हो रहा था। परन्तु यह भी सत्य है कि किसी भी देश में शास्त्र–चिन्ता की परम्परा उस देश विशेष की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। महर्षि गौतम के बाद उस क्षेत्र में गणराज्य और मगध साम्राज्य स्थापित हो चुका था। बिहार में गंगा के उत्तर गणराज्य था और दक्षिण में मगध साम्राज्य स्थापित हो चुका था। गणराज्य और मगधसाम्राज्य दोनों ही बुद्ध और वर्धमान महावीर से प्रभावित थे। तत्कालीन समाज की राजनैतिक व्यवस्था या तो बौद्ध से या पुनः जैन से प्रभावित थी। गणराज्य हो या साम्राज्य दोनों ही इन दोनों नास्तिक संप्रदायों से प्रभावित थे।[82] इसीलिए सम्राट बिम्बिसार से लेकर मौर्यवंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ के समय तक की राजनैतिक और सामाजिक परस्थिति का उल्लेख आवश्यक हो जाता है जिससे यह कहा जा सके कि शासक और जन–सामान्य किस संप्रदाय से प्रभावित थे। महर्षि गौतम के समय के तत्काल बाद मगधसाम्राज्य की स्थापना और उत्तर बिहार में गणराज्यों की स्थापना हो चुकी थी। यद्यपि उस समय भी न्यायसूत्र की व्याख्या की जा रही थी। यह मान्यता न्यायभाष्य में अनिश्चयवाचक सर्वनामों के प्रयोग से स्पष्ट होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि मिथिला में उस समय न्यायदर्शन पर चिन्तन नहीं हो रहा था। यह भिन्न विषय है कि उस अवधि में लिखे गये ग्रंथ उपलब्ध नहीं होने से महर्षि गौतम के बाद सीधे भाष्यकार वात्स्यायन की ही चर्चा होती है। इन 400 वर्षों तक विदेह (मिथिला) या तो गणराज्य था या मगध साम्राज्य के अधीन था। उस समय में मगध साम्राज्य का शासन क्रमशः हिरण्यकवंश, शैशुनागवंश, नन्दवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश के अधीन था। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त अपने आरम्भिक समय में कौटिल्य के संरक्षण में वैदिक दर्शन के अनुयायी अवश्य थे, परन्तु बाद में वे भी जैन धर्म के अनुयायी हो गये। मगध साम्राज्य के अधिकांश शासक बौद्ध या जैन धर्म के ही अनुयायी थे। समाज के अधिकांश व्यक्ति या तो बुद्ध के अनुयायी थे या पुनः जैन के। संभवतः मगध के सम्राटों को सुचारु रूप से शासन–व्यवस्था चलाने के लिये उन्हें नास्तिकों का समर्थन करना राजनैतिक अनिवार्यता थी। यही कारण है कि महर्षि गौतम और भाष्यकार वात्स्यायन के बीच की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था की चर्चा करना तथा उस अन्तराल में मिथिला में न्याय दर्शन की स्थिति की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

मगधसाम्राज्य का उदय और न्यायदर्शन

मिथिला में हिरण्यकवंश का शासन और न्याय दर्शन –

हिरण्यकवंश के बिम्बिसार मगधसाम्राज्य के संस्थापक थे। पाली ग्रंथों के अनुसार शिशुनागवंश के चन्द्र प्रद्योत बिम्बिसार के समकालीन थे और उनके बाद बिम्बिसार का शासन आरम्भ होता है। बौद्ध और जैन दोनों एक दूसरे के विरोध में यह कहते थे कि सम्राट बिम्बिसार उन्हीं के अनुयायी हैं। वैसे अभी के इतिहासकारों के अनुसार सम्राट बिम्बिसार बौद्ध मतों के पक्षधर थे।[83] राधा कुमुद मुकर्जी कहते हैं कि सम्राट बिम्बिसार को जैन के प्रति झुकाव अवश्य था, परन्तु वे बुद्ध के ही अनुयायी थे। बौद्ध साहित्यों का उल्लेख करते हुए राधा कुमुद मुखर्जी कहते हैं कि गिरिव्रज में बिम्बिसार और गौतम की पहली मुलाकात हुई थी। उस समय वे बुद्ध नहीं कहे जाते थे, मात्र गौतम के नाम से ही प्रख्यात थे। यह मुलाकात गौतम के सन्यास से सात वर्ष पूर्व गिरिव्रज में हुआ था। बाद में बिम्बिसार गिरिव्रज से राजगृह चले आये। पहली मुलाकात में ही बिम्बिसार गौतम से उतने अधिक प्रभावित हो गये थे कि उन्हे अत्यधिक सम्पत्ति देकर उन सम्पत्तियों का प्रधान बना दिया था।[84] सम्राट बिम्बिसार का बौद्ध के प्रति लगाव का दूसरा प्रमाण यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दिया जाता है कि बिम्बिसार अपना व्यक्तिगत वैद्य जीवक को गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों के स्वास्थ्य की देखभाल के लिये नियुक्त किया था। दोनों की घनिष्टता इससे भी सिद्ध होती है कि बिम्बिसार बुद्ध एवं उनके भिक्षुओं को गंगा पार करने के लिये नाविकों को देय शुल्क माफ कर दिया था।[85] मुहम्मद कुरेशी पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर कहते हैं कि जिस समय में बुद्ध उपदेश दे रहे थे उस समय में बिम्बिसार (ई.पू. 543–ई.पू. 491 तक) मगध के शासक थे। बिम्बिसार के समय में राजगृह बौद्ध, जैन, और आजीविकों की क्रिया–कलापों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। मगध साम्राज्य में जैन और बौद्ध दोनों को राज्य का आश्रय प्राप्त था।[86] बिम्बिसार बुद्ध और उनके अनुयायियों के समर्थक ही नहीं अपितु प्रसंशक भी थे।[87] कुरेशी आगे कहते हैं कि बिम्बिसार के समय में बुद्ध अपना अधिकांश समय राजगृह में ही बिताया करते थे और वे राजगृह के अनेक क्षेत्रों में रहकर अपने मतों का प्रचार एवं प्रसार किया करते थे। राजगृह उनका प्रिय नगर था और गृद्धकूट नामक पर्वत की चोटी उनका प्रिय वासस्थान। बुद्ध वहाँ अपना उपदेश दिया करते थे और राजगृह उनके जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का केन्द्र था।[88] बिम्बिसार अपने साम्राज्य में अनेक राज्यादेशों से बौद्ध मतों का प्रचार कर रहे थे। बौद्धमत दिनानुदिन समाज में पल्लवित और पुष्पित हो रहा था। बिम्बिसार वैदिक दर्शन और संस्कृति के विरोधी थे और इससे उनके साम्राज्य में वैदिक दर्शन का प्रभाव कम हो रहा था। यूँ तो हिन्दू विरोधी धर्मों का उदय मिथिला के निकटवर्ती क्षेत्र में ई. पू. 600 वर्षों से पहले ही हो चुका था, परन्तु ई. पू. 600 वर्ष के आसपास शक्तिशाली मगधसाम्राज्य के उदय से हिन्दूधर्म और हिन्दून्याय उपेक्षित सा हो गया था। कुरेशी कहते हैं कि जिस समय जनता को बुद्ध अपने मतों का उपदेश दे रहे थे उसी समय में मगध में सम्राट बिम्बिसार का उदय हुआ था। बिम्बसार के उदय के साथ भारत में मगध साम्राज्य का भी उदय होता है और भारत के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ होता है। वज्जी और लिच्छवी गणराज्य मगध साम्राज्य के अन्तर्गत थे। बौद्ध और जैनियों को मगध सम्राट का संरक्षण प्राप्त था। राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं कि उस समय उत्तर भारत में छोटे–छोटे गणराज्य थे और उन गणराज्यों में या तो कुलीनतन्त्र था या फिर प्रजातन्त्र था। विदेह मगधसाम्राज्य के अन्तर्गत था। उस समय वैशाली मात्र लिच्छवी गणराज्य का ही नहीं अपितु वज्जी गणराज्य की भी राजधानी थी। वज्जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गणराज्य के अन्तर्गत आठ छोटे छोटे गणराज्य सम्मिलित थे। उस समय बिहार में मगध साम्राज्य और ये गणराज्य दोनों ही राजनैतिक दृष्टि से फल–फूल रहे थे। इन दोनों गणराज्यों को बुद्ध का आशीर्वाद प्राप्त था।[89] गणराज्यों में और मगध साम्राज्य में बुद्ध प्रभावी थे। बुद्ध के अनुयायी बिम्बिसार वैदिक दर्शन के विरोधी थे। परिणामतः आस्तिक दर्शन के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था।

यह कहा जा चुका है कि सम्राट बिम्बिसार के समय में मिथिला पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजित था और बुद्ध उनके समकालीन थे। बिम्बिसार के समय में संपूर्ण मिथिला बुद्ध के प्रभाव से आन्दोलित था, परन्तु उस समय भी मिथिला का पूर्वी भाग जिसे आज मिथिला के नाम से जानते हैं वह भाग उस समय में भी बुद्ध से प्रभावित नहीं था। बुद्ध और उनके अनुयायी वैदिक दर्शन और और संस्कृति को सभी दिशाओं से प्रहार कर रहे थे और इससे वैदिक दर्शन और संस्कृति का आधार हिलने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि मैथिल नैयायिक जो शांत बैठे हुए थे वे भी बौद्ध के चतुर्दिक प्रहारों के विरोध में औरं वैदिक दर्शन पर आधारित संस्कृति की रक्षा के लिये लिखने लगे।[90] मैथिल नैयायिक और बौद्धों के इस वाद और प्रतिवाद से भारतीय चिन्तन परंपरा में एक नये युग का आरम्भ हुआ। बुद्ध के समय में नैयायिक और बौद्धों के बीच शास्त्रार्थ हुआ करता था। जो संप्रदाय विरोधी संप्रदाय को शास्त्रार्थ में पराजित करते थे उस संप्रदाय का मत समाज में मान्य होता था। देश के अनेक भागों से पंडित इस आयोजन में भाग लेते थे। परिणामतः विजित संप्रदाय का यश देश के अन्य भागों में भी फैल जाता था। सभा में उपस्थित पंडित विजित पक्ष के अनुयायी हो जाते थे।[91]

बुद्ध के सामाजिक पटल पर आने से समाज में एक प्रकारक अस्थिरता और बौद्धिक अराजकता का वातावारण था। इतिहासकारों की मान्यता है कि सामाजिक अस्थिरता तथा बौद्धिक अराजकता के बीच ही महर्षि गौतक द्वारा न्यायसूत्र को व्यवस्थित किया गया था।[92] इस प्रकार बिम्बिसार के समय में ही मिथिला में न्याय दर्शन का भी विकास होने लगा। इस वाद –विवाद से न्याय और बौद्ध दोनों परंपराओं में अभूतपूर्व ज्ञानात्मक विकास देखने को मिलता है। एक ओर जहाँ बौद्ध न्याय की परंपरा का जन्म हुआ वहीं मिथिला में वैदिक न्याय की परंपरा का भी जन्म हुआ। इस प्रकार मिथिला वैदिक न्याय की जन्मस्थली हो गयी।[93]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मिथिला के पश्चमी भाग वज्जी के लोग बौद्ध मतावलम्बी थे, परन्तु वे भी मैथिल नैयायिकों द्वारा बौद्ध मतों के खंडन के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। इस क्षेत्र के बौद्धों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वज्जीपुत्तक भिक्षुओं का और वैशाली के नागरिकों का मनोबल टूटने लगा और उनका आचरण बाद में जाकर बौद्ध के लिये घातक सिद्ध हुआ। वज्जीपुत्तक भिक्षु द्वारा निर्धारित आचरणों की परीक्षा के लिये वैशाली में बौद्ध–प्रधानों ने 700 भिक्षुओं का सम्मेलन बुलाकार वज्जीपुत्तक भिक्षु के मतों को समाप्त कर दिया। इसका परणिाम यह हुआ कि गंडकी के पश्चिम भी बौद्ध मतावलम्बी नहीं रहे। अनेक कारणों से बौद्ध न्याय की परंपरा उस क्षेत्र में इतिहास बन गया, परन्तु मिथिला की न्याय–परंपरा जीवित रही।

बिम्बिसार के बाद उनका पुत्र अजातशत्रु भी बौद्धधर्म के ही अनुयायी थे और वैदिक संस्कृति और न्यायदर्शन के विरोधी थे। अजातशत्रु का समय ई. पू. 491 से लेकर ई. पू. 459 तक माना जाता है। अजातशत्रु बुद्ध से इतना अधिक प्रभावित थे कि वे बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके भौतिक अवशेष का अंश राजगृह लाकर उस अवशेष को एक स्तूप के अन्तर्गत रखा था। बुद्ध के मृत्यु के कुछ दिनों के बाद ही बुद्ध की शिक्षा को संगृहीत करने के लिये अजातशत्रु बौद्ध भिक्षुओं का प्रथम सम्मेलन राजगृह में आयोजित किया था। उस बौद्ध सम्मेलन में आये बौद्ध भिक्षुओं को रहने के लिये अजातशत्रु सप्तपर्णी गुफा के सामने एक विशाल भवन का निर्माण कराया था।[94] इस भवन का भग्नावशेश अभी भी राजगृह में देखा जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अजातशत्रु भी बौद्ध मत के संरक्षक थे। समाज में बुद्ध के मतों का क्रमिक विकास होता रहा और वैदिक दर्शन यथावस्था की स्थिति में थी।

अजातशत्रु के समय में प्रभुत्वशाली लिच्छवी गणराज्य का क्रमिक पतन होने लगा और उस समय वैशाली ही नहीं अपितु तिरहुत (मिथिला) भी अजातशत्रु के अधीन हो गया था। हिमालय से लेकर गंगा तक का क्षेत्र मगध साम्राज्य के अधीन था। मैथिल वैदिक दर्शन और संस्कृति के पक्षधर थे और लिच्छवी गणराजय के पक्ष में थे। इसीलिए लिच्छवी गणराज्य और तिरहुत के लोग अजातशत्रु की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के विरोधी हो गये थे। इस विरोध को रोकने के लिये ही गंगा के दक्षिणी किनारे पाटिल गाँव में अजातशत्रु द्वारा पाटलिपुत्र की नींव रखी गई और किला का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्माण कराया गया। अजातशत्रु का पुत्र उदय या उदयिन इस किला के निकट पाटलिपुत्र शहर बसाया था। उनके समय में भी गंगा के उत्तर वैशाली राजनैतिक और धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र था। वैशाली में बौद्ध तथा जैन के अनुयायीयों का अत्यधिक प्रभाव था। इसी हेतु से शिशुनाग वैशाली में अपना राजभवन का निर्माण कर वैशाली को अपनी राजधानी बनाया था।[95] उस समय दरभंगा वज्जीगणराज्य का उत्तरी भाग था और उसी क्षेत्र में मैथिल सीमित होकर रह गये थे। संपूर्ण वज्जी गणराज्य को अजातशत्रु मगध साम्राज्य के अधीन कर लिया था।[96]

अजातशत्रु के वंशजों में सम्राट उदय या उदयिन के अतिरिक्त अन्य सभी शासक शक्तिहीन थे। बिम्बिसार और उनके पुत्र अजातशत्रु सम्राज्य का विस्तार मात्र करते रहे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि बिम्बिसार और उनके वंशज बौद्ध के अनुयायी थे। बौद्धों को राज्याश्रय प्राप्त था और बौद्ध हिन्दू धर्म और संस्कृति पर आघात किया करते थे। फलतः बिम्बिसार और उनके वंशजों के समय में आस्तिक दर्शन का विकास नहीं हो पा रहा था। वे अपने साम्राज्य में हिन्दू संस्कृति की रक्षा नहीं करते थे और न उस संस्कृति का अनुसरण करते थे। इस वंश के सभी शासक अपने पिताओं की हत्या कर राजगद्दी पर आसीन हो जाते थे। इससे प्रजाओं में असंतोष का वातावरण था और वे असंतुष्ट होकर इस वंश के अन्तिम शासक को निर्वासित कर दिया था। उनके स्थान पर शिशुनाग जो वाराणसी में मगध शासक के अमात्य थे उन्हें मगध की जनता सम्राट के रूप में नियुक्त कर दिया। इस प्रकार शिशुनाग बिम्बिसार और अजातशत्रु द्वारा स्थापित मगध साम्राज्य के शासक हो गये।[97]

बिम्बिसार के समय से लेकर अजातशत्रु के समय तक वज्जीगणराज्य के अन्तर्गत न्यायदर्शन विकसित नहीं हो पाया। अनेक राजनैतिक और सामाजिक कारणों से वह समय आस्तिक दर्शन और हिन्दू संस्कृति के लिये अनुकूल समय नहीं था। बौद्ध और जैन दोनों के साहित्यों में कहा गया है कि दोनों को ही सम्राट बिम्बिसार और सम्राट अजातशत्रु का संरक्षण प्राप्त था। जैन साहित्यों में बिम्बिसार को श्रेणिक और अजातशत्रु को कुणिक कहा गया है। महावीर चौदह वर्षा ऋतुओं तक राजगृह और उसके उपनगर नालन्दा में वास किया था। राजगृह के अनेक धनी व्यक्ति वर्धमान महावीर के समर्थक थे। यह आश्चर्य का विषय है कि कैसे बौद्ध और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जैन दोनों को बिम्बिसार का संरक्षण प्राप्त था ? जैन साहित्यों के अनुसार उन्हें भी बिम्बिसार और अजातशत्रु का समर्थन प्राप्त था।[98] उस समय हिन्दूधर्म और संस्कृति के पोषकों में भय का वातावरण था। जो भी बौद्ध के मत का विरोध करता और हिन्दू संस्कृति का अनुसरण करता उन्हें दण्ड दिया जाता था। फलतः उस समय में गौतमीय न्याय का विकास संभव नहीं था। बौद्ध और जैन ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु के बाद उनका पुत्र उदय या उदयिन मगध के सम्राट हुए। उन्होंने ही सोन और गंगा के बीच पाटलि गाँव में पाटलिपुत्र की स्थापना की थी जिससे कि वज्जी और लिच्छवी पर शासन किया जा सके। उदयिन के पुत्र अनिरुद्ध और अनिरुद्ध के पुत्र राजा नन्दीवर्धन क्रमशः हिरण्यकवंश के शासक हुए। राजा नन्दीवर्धन जैन धर्म के उपासक थे।[99]

बौद्ध स्रोतों के अनुसार अनिरुद्ध के बाद मुण्ड और नागदशक हिरण्यकवंश के शासक हुए। ये शासक बौद्ध या जैन के समर्थक नहीं थे और अधिकांश प्रजा या तो बौद्ध हो चके थे या पुनः जैन। इसीलिए प्रजा उन शासकों से संतुष्ट नहीं थी और अन्त में प्रजा इस वंश के अन्तिम शासक की हत्या कर अमात्य शिशुनाग को मगध का सम्राट घोशित कर दिया था। इस प्रकार मगधसाम्राज्य में हिरण्यकवंश के शासन का अन्त और शैशुनाग वंश का शासन आरम्भ होता है।

मिथिला में शैशुनागवंश का शासन और न्याय दर्शन –

वैशाली के लिच्छवी राजा और नगरशोभिनी के पुत्र शिशुनाग मगध साम्राज्य के अमात्य थे। वैशाली का एक अधिकारी उनका लालन पालन किया था। मगध से हिरण्यकवंश के शासन के बाद शैशुनाग का शासन आरम्भ होता है। शिशुनाग के बाद उनका पुत्र काकवर्ण पाटलिपुत्र और वैशाली के शासक बने। काकवर्ण कालाशोक के नाम से भी जाने जाते थे। कालाशोक बौद्ध के अनुयायी और आस्तिक दर्शन के घोर विरोधी थे। कालाशोक की मान्यता थी कि न्यायदर्शन के विकास से बौद्ध दर्शन के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा, फलतः उनका समय भी न्यायदर्शन के विकास का उचित समय नहीं था। कालाशोक वैशाली में बौद्धों का द्वितीय सम्मेलन का आयोजन कराया था।[100]

ऐसा अभिमत है कि कालाशोक के समय में मिथला में खुले रूप से आस्तिकदर्शन (न्यायदर्शन) का अध्ययन अध्यापन नहीं हो रहा था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कालाशोक के बाद उनके पुत्र भद्रसेन 17 वर्षों तक मगध के सम्राट रहे। शिशुनागवंश के नवाँ सम्राट नन्दीवर्धन और दशवाँ सम्राट पंचमक थे। कालाशोक के बाद यह वंश दश पुस्तों तक चलता रहा। परन्तु वे सभी प्रभावशाली नहीं थे। कालाशोक के बाद इस वंश के सबसे प्रभुत्वशाली सम्राट नन्दीवर्धन थे। समाज में बौद्ध संस्कृति और वैदिक संस्कृति के कारण आपसी विरोध था। आपसी विरोध और कलह के कारण शैशुनाग वंश का अन्त और नन्दवंश की स्थापना हुई।[101]

इतिहासकारों की मान्यता है कि शैशुनाग वंश के सभी शासक बौद्ध धर्म और दर्शन के अनुयायी थे। राजद्रोह के भय से आस्तिक दर्शन के अनुयायी प्रच्छन्न रूप से ही आस्तिक दर्शन और धर्म का अनुसरण करते रहे। पंचमक की हत्या कर महापद्म नन्द मगध के सम्राट बने। इस प्रकार मगध में शैशुनाग के बाद नन्दवंश का शासन आरम्भ होता है। जैसा कि आगे कहा जायेगा कि नन्दशासक भी कुलीनों के आस्तिक दर्शन और धर्म के विरोधी थे, फलतः उनके शासन काल में भी मिथिला में ही नहीं अपितु संपूर्ण उत्तर भारत में संस्कृत आधारित शास्त्रों पर विशेष रूप से न्यायदर्शन पर शासकों द्वारा आघात होता रहा।

मिथिला में नन्दवंश का शासन और न्याय दर्शन–

शैशुनाग के बाद मगधसाम्राज्य नन्दवंश के अधीन हो गया। महापद्म या महापद्मपति इस वंश के संस्थापक माने जाते हैं। शैशुनाग वंश के दशवें शासक का नाम महानन्दिन था। ऐसा कहा जाता है कि महापद्म का जन्म महानन्दिन और शूद्र महिला के अवैध संयोग से हुआ था। महापद्म की उत्पत्ति और उनके परिवार के संदर्भ में पुराण और जैनसाहित्य के बीच मतभेद देखने को मिलता है। जैन साहित्य महापद्म को हजाम से अवैध रूप से उत्पन्न पुत्र कहता है। पुराण के अनुसार महापद्मनन्द शूद्र जाति का था। ग्रीक विवरण के अनुसार शैशुनाग वंश के महानन्दिन की पत्नी एक हजाम से प्रेम करती थी। वह हजाम देखने में बहुत सुन्दर था। यह भी अभिमत है कि रानी और हजाम के अवैध संबन्ध से महापद्म का जन्म हुआ और रानी ने ही अपने पति की हत्या करवा दी थी।[102] जो भी हो यह तय है कि वे अपने समय के अत्यधिक शक्तिशाली सम्राट थे। महापद्म कुलीन जाति के विरोधी थे। इसीलिए उन्हें सर्वक्षत्रियान्तक अर्थात् सभी क्षत्रिय जातियों को अन्त करने वाला तथा एकराट भी कहा जाता है।[103]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महापद्म अपने समय के सभी राजाओं को हराकर भारतवर्ष के अधिकांश भागों को अपने अधीन कर लिया था। मिथिला के इतिहासकार उपेन्द्र ठाकुर का अभिमत है कि उनके समय में मैथिल दरभंगा जिला तक सीमित रह गये थे। अजातशत्रु ही वज्जी को मगधसाम्राज्य के अधीन कर लिया था। नन्दवंश की राजधानी पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) थी।[104] महापद्म के आठ पुत्र थे और धननन्द इस वंश के अन्तिम सम्राट थे। कौटिल्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा नन्दवंश का नाश कर दिया गया। चूँकि महापद्म निम्न जाति के थे इसीलिए नन्दवंश के राज्य में ब्राह्मणेतर और क्षत्रियेतर वर्गों का ही समाज में वर्चस्व था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिसार और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस एक स्वर में नन्दवंश को ब्राह्मणों का और वैदिक दर्शनों का विरोधी कहा है। इससे स्पष्ट है कि उस समय में वैदिक दर्शन विशेषरूप से न्याय की गति अवरुद्ध हो गयी थी।

राधा कुमुद मुकर्जी कहते हैं कि नन्दवंश के समय में पाटलिपुत्र और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में जैन दर्शन का प्रभाव था। नन्दवंश के सम्राट जैनियों से प्रभावित थे और यही कारण है कि उनके राज में अनेक जैन आमात्य के पद पर आसीन थे।[105] महापद्म को 9 पुत्र थे। इनमें धननन्द सभी से छोटे थे। संस्कृत साहित्य में उन्हें नन्द और पाली साहित्यों में उन्हें धननन्द के नाम से जाना जाता है। धननन्द सभी में छोटे थे। पाली साहित्यों में उन सभी भाईयों का नाम और उनके प्रसंग में विवरण है। वे सभी एक के बाद एक क्रमिक रूप से मगध साम्राज्य के शासक हुए। अन्त में धननन्द शासक हुए।[106]

जिस समय चाणक्य तक्षशिला से पाटलिपुत्र अध्यापन के लिये आये थे उस समय मगध साम्राज्य का शासक धननन्द था। उन्हें धन एकत्र करने का व्यसन था, और उसी कारण से लोग उन्हें धननन्द कहते थे। धननन्द वृक्ष से लेकर चर्म तक सभी वस्तुओं पर इतना अधिक कर लगा दिया था कि प्रजा उससे असंतुष्ट थी।[107] प्रजा की असंतुष्टि भी नन्दवंश के नाश का एक कारण बना। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस के अनुसार धननन्द चाणक्य को अपनी सभा से निष्कासित कर दिया था और उसी कारण से चाणक्य नन्दवंश को समाप्त करने का शपथ ले लिया था। मौर्यवंश के प्रथम शासक चन्द्रगुप्त की सहायता से उन्होंने नन्दवंश का समूल नाश कर दिया। इस प्रकार मगध साम्राज्य मौर्यवंश के अधीन हो गया। नन्द ब्राह्मण–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विरोधी था और वह आस्तिक दर्शन के शास्त्रों का भी विरोध करता रहा। नन्द निम्न जाति के थे और साथ साथ वे अत्यधिक निष्ठुर शासक भी थे। इससे वे समाज में लोकप्रिय नहीं रहे।[108]

राधाकृष्ण चौधरी अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ बिहार में कहते हैं कि नन्दवंश के शासन काल में मिथिला में वैदिकदर्शन और संस्कृति के अनुयायी की स्थिति अच्छी नहीं थी। मैथिल ब्राह्मणों का विरोध ही नन्दवंश के शासन की समाप्ति का कारण बन गया।

मिथिला में मौर्यवंश का शासन और न्याय दर्शन –

मौर्यवंश का प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य एक क्षत्रिय शासक था।[109] उपेन्द्र ठाकुर कहते हैं कि बनमनखी रेलवे स्टेसन के निकट मौर्यस्तम्भ और जयमंगलगढ में मौर्यवंश के समय का काष्ठ स्तम्भ पाया गया है। इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर वे कहते हैं कि सम्पूर्ण उत्तर बिहार चम्पारण से लेकर पूर्णियाँ तक चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन था।[110]

राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार मौर्यवंश के उदय के दो कारण थे– ब्राह्मणों का नन्द के विरोध में प्रतिक्रिया और प्रजाओं का आन्दोलन। ये दोनों ही आन्दोलन कौटिल्य के नेतृत्व में हुआ था।[111] इस कथन से स्पष्ट है कि नन्द बाह्मण के विरोधी थे। राधा कुमुद मुकर्जी कहते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में समाज आस्तिक विचारों पर आधारित व्यवस्था से परिचालित होता था।[112]

राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में समाज के शीर्ष पर ब्राह्मण पुरोहित के रूप में अवस्थित होते थे। वे पुरोहित राजा को राजकार्य में निर्देश दिया करते थे और परिषद् के सदस्य भी होते थे। राजनैतिक और प्रशासकीय कार्यों में उनसे सहयोग लिया जाता था।[113] ये पुरोहित जंगल में रहकर अध्ययन अध्यापन का कार्य और यज्ञ किया करते थे। सामाजिक व्यवस्था के निर्धारण और संचालन में ये ब्राह्मण सहयोग अवश्य करते थे , परन्तु साक्षात रूप से वे राज–कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे। इस प्रकार ये पुरोहित समाज में रहकर भी समाज से अनाशक्त थे।[114]

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में आस्तिक दर्शन विशेष रूप से न्याय पर चर्चा हुआ करता था। राजा द्वारा प्रति वर्ष दार्शनिकों की सभा आयोजित की जाती थी। इस समा में राजा चन्द्रगुप्त स्वयं भाग लिया करते थे और धर्म तथा दर्शन पर अपना मत प्रस्तुत करते थे।[115] इन दर्शनिकों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रामाणिक (नैयायिक) कहा जाता था। ये प्रामाणिक नियमतः ब्राह्मण होते थे। ये प्रामाणिक ब्राह्मण उन ब्राह्मणों को हेय दृष्टि से देखते थे जिन्हें वैदिक कर्मकाण्ड में विश्वास था।[116]

राधा कुमुद मुकर्जी के उक्त मत से यह स्पष्ट है कि नैयायिक और कर्मकाण्डी मीमांसकों में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी विरोध था। मिथिला में न्याय और मीमांसा का आपसी मतभेद बहुत पूर्व से ही चली आ रही है। न्याय और मीमांसा का यह विरोध गंगेशापाध्याय तक चलता रहा। इससे यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के आरम्भिक काल में न्याय की स्थिति मिथिला में अच्छी थी। ये नैयायिक वैदिक कर्मकाण्ड को सही नहीं मानते थे। उस समय में अन्य आस्तिक दर्शन भी वर्तमान थे। वे सभी अपने अपने मत के अनुसार प्रमाण का लक्षण किया करते थे। प्रमाण से उनका तात्पर्य यथार्थ ज्ञान के साधन से था। परन्तु ये सभी मीमांसकों के विरोधी थे। प्रामाणिक वैदिक कर्मकाण्ड को दर्शन नहीं मानते थे।[117] दर्शन का क्षेत्र उन प्रामाणिकों के अनुसार प्रमाणमीमांसा तक ही सीमित था। ब्राह्मण को परिव्राजक कहा जाता था। अंगुत्तर निकाय में दो प्रकारक परिव्राजक की चर्चा है – ब्राह्मण परिव्राजक और अन्नतिथिया। अन्नतिथिया के अन्तर्गत बौद्ध संन्यासी से इतर परिव्राजक आते थे। ये परिव्राजक बौद्ध नहीं थे।[118]

राधा कुमुद मुकर्जी सुत्तनिपात के आधार पर कहते हैं कि बाह्मण परिव्राजक को वादशील, वैतण्डि कहा जाता था। आज भी वाद–विवाद करने वाले को वादशील, वैतण्डि आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। न्याय एक वाद–विवाद करने की प्रणाली के रूप में प्रसिद्ध था।[119] इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में मिथिला में न्यायदर्शन वर्तमान था और न्याय दर्शन की विषयवस्तु पर शास्त्रार्थ हुआ करता था। परन्तु यह सामाजिक व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल पायी। समाज में बौद्ध, जैन, और अन्य नास्तिक दार्शनिकों का अपना संघ हुआ करता था। ये संघ न्याय दर्शन और ब्राह्मण–संस्कृति के आधार पर आघात किया करते थे। श्रमणों का यह संघ परिव्रजिया कहलाता था।[120] ये परिव्रजिया सदैव आस्तिक दार्शनिकों विशेष रूप से नैयायिकों का विरोध किया करते थे। सभी परिव्राजकों की अपनी अपनी दृष्टि, अपना अपना दर्शन और अपना अपना संघ होता था। परन्तु इन परिव्राजकों में नास्तिक परिव्राजक नैयायिकों के विरोधी थे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशाखदत्त के मुद्राराक्षस के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन स्थिर हो जाने के बाद कौटिल्य राज्य–कार्य से सन्यास लेकर अध्ययन–अध्यापन का कार्य करने लगे। कौटिल्य के चले जाने के बाद बाद चन्द्रगुप्त भी जैनियों से प्रभावित होकर अपने जीवन के उत्तरार्ध में जैन हो गये। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन मुनि भद्रबाहु के शिष्य हो गये। चन्द्रगुप्त अपना साम्राज्य त्यागकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत के श्रवण बेलगोला (मैसूर) चले गये और वहीं उनका मृत्यु हो गयी। इस प्रकार पुनः मिथिला में न्यायदर्शन का अंधयुग आरम्भ हो गया।[121]

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद उनका पुत्र बिन्दुसार मगधसाम्राज्य के शासक थे। पिता चन्द्रगुप्त और पुत्र सम्राट अशोक की छवि के समक्ष सम्राट बिन्दुसार की छवि टिक नहीं पायी। सम्राट बिन्दुसार का पुत्र महान बौद्ध सम्राट प्रियदर्शी अशोक भारत की राजनीति के पटल पर ही नहीं अपितु विश्व के पटल पर 47 वर्षों (ई.पू. 269 से लेकर ई.पू. 232 वर्ष) तक छाये रहे। वे बौद्ध धर्म के महान प्रचारक और अनुयायी थे। अपने बाद के जीवन में वे बौद्धधर्म स्वीकार कर अहिंसा के पुजारी हो गये। गंगा के उत्तर नेपाल की तराई तक अशोक का साम्राज्य था। वह क्षेत्र भी बौद्धों के प्रभाव से वंचित नहीं था। बिहार के पूर्णियाँ जिला के निकट बनमनखी रेलवे स्टेशन के पास अशोक के समय का स्तम्भ पाया जाना तथा जयमंगलगढ़ के निकट काष्ठस्तम्भों की शृंखला पाया जाना इस तथ्य का द्योतक है कि अशोक के समय में मिथिला में भी बौद्धमत प्रभावी था।[122]

सम्राट अशोक के समय में मिथेला और मगध में अनेक बौद्ध भिक्षु हुआ करते थे। ये बौद्ध भिक्षु उन क्षेत्रों में ही नहीं अपितु तिब्बत में बौद्ध मत के प्रचार–प्रसार के लिये भेजे जाते थे।[123] ऐसी मान्यता है कि कलिंग युद्ध के बाद अशोक अपने व्यक्तिगत जीवन में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि वे बौद्ध धर्म की उस व्यवस्था को स्वीकार किया था जिस व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति की सेवायें धर्मिक कार्यों के लिये नियत कर दी जाती है। किसी व्यक्ति को व्यक्तिगत स्तर पर धर्म–विशेष स्वीकार करना और उस धर्म का प्रचारक होना दोनों भिन्न विषय है। विश्व–इतिहास से यह ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म व्यक्तिगत स्तर पर ही स्वीकार नहीं किया था, अपितु वे बौद्धधर्म के महान प्रचारक भी थे।[124]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यहाँ यह ध्यातव्य है कि सम्राट अशोक द्वारा प्रसारित और प्रचारित धर्म पूर्ण रूप से बौद्ध धर्म नहीं कहा जा सकता है। अशोक द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित धर्म एक ऐसी नैतिक व्यवस्था थी जिसका मूल उसके साम्राज्य में प्रचलित सभी धर्मों में वर्तमान था। उन्होंने सभी धर्मों में उपस्थित मानवीय एवं नैतिक मूल्यों को संकलित कर बौद्ध धर्म में समाहित किया था और इस प्रकार वह एक ऐसा धर्म था जो किसी भी धर्म का विराधी नहीं था। नैतिक मूल्यों पर आधारित होने से अशोक का धर्म अन्य सभी धर्मों के साथ संगत था। वह अन्य धर्मों का विरोधी नहीं था। अशोक का धर्म साम्राज्य में शाँति और भाईचारा स्थापित करने का एक साधन मात्र था।[125]

सम्राट अशोक वास्तव में सभी धर्मों के त्राता थे। उन्होंने अपने साम्राज्य में प्रचलित सभी धर्मों का सर्वेक्षण कराया था और उस सर्वेक्षण के आधार पर वह अपने साम्राज्य में प्रचलित धर्मों को निम्न पाँच वर्गों में विभाजित किया था – बौद्ध, आस्तिक (ब्राह्मण), आजीविक, निर्ग्रन्थ (जैन), और अन्य। वे स्वयं सभी धर्मों का आदर करते थे और अपनी प्रजा को आदेश दिया था कि वे भी सभी धर्मों का आदर करें।[126]

अशोक के प्रयत्न के उपरान्त भी बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रति मैथिलों का व्यवहार निषेधात्मक ही था। इस समय में भी वे न्याय दर्शन और वैदिक संस्कृति के ही समर्थक थे। मौर्य सम्राट के इस नीति को वे उग्र रूप से विरोध करते रहे और मैथिलों का यह उग्र विरोध मौर्य वंश के पतन का एक कारण भी बन गया।[127] अशोक के बाद मिथिला में आस्तिक दर्शन विशेष रूप से न्याय दर्शन पुनः गतिशील हो गया। कहा जाता है कि न्याय दर्शन का अध्ययन–अध्यापन और वैदिक संस्कृति का पुनरागमन मौर्य साम्राज्य के विखंडन का एक कारण बन गया। वह समय आस्तिक दर्शन और संस्कृति के पुनरावर्तन का समय था।[128]

अशोक की मृत्यु (ई. पू. 232 वर्ष) के बाद मिथिला में आस्तिक दर्शन विशेषतः न्याय दर्शन का अध्ययन और अध्यापन पुनः आरम्भ हो गया। अशोक का अहिंसा की नीति मगध साम्राज्य के लिये विनाशकारी भी सिद्ध हुई। अशोक के उत्तरवर्ती मगध शासकों की अदूरदर्शिता एवं अयोग्यता के परिणामस्वरूप विशाल मगध साम्राज्य संकुचित और क्षीण होता गया। जैसे जैसे मौर्यवंश की शक्ति कम होने लगी वैसे ही वैसे हिन्दू न्यायदर्शन बौद्धदर्शन का स्थान लेने लगा और बृहद्रथ के समय में न्याय पुनर्जागृत हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उठा। तलवार के स्थान पर बाह्ममणों का दण्ड स्थान ले लिया। भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र द्वारा अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या के बाद सत्ता पर ब्रह्मणों का अधिकार हो गया।[129] पुष्यमित्र शूंग आस्तिक दर्शन के महान समर्थक थे। ई. पू. 183 वर्ष तक मगध में मौर्यों का शासन रहा। वासम कहते हैं कि पुष्यमित्र ब्राह्मणों के साथ मिलकर राजमहल के अन्तर्गत विद्रोह करा दिया और बृहद्रथ की हत्या कर दी।[130]

मिथिला में शुंगवंश का शासन और भाष्यकार वात्स्यायन का प्रवेश

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज भाष्यकार वात्स्यायन का काल ई. पू. 200 से 300 वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं। यह काल मिथिला के इतिहास में पुष्यमित्र शुग का काल था। इस काल को भाष्य–काल भी कहा जाता है। इसी समय में पाणिनी के सूत्र पर पतंजलि द्वारा महाभाष्य लिखा गया तथा योगसूत्र पर भी भाष्य लिखा गया। जैसा कि पीछे देख चुके हैं कि पुष्यमित्र शूंग से पूर्व के अधिकांश राजा या तो जैनधर्म के अनुयायी थे अथवा बौद्धधर्म के अनुयायी थे। इस परिस्थिति में हिन्दूधर्म और दर्शन का प्रभाव उस क्षेत्र में निश्चय ही कम हो गया था। पुष्यमित्र का समय आस्तिक दर्शन के पुनर्जागरण का समय था। उनके समय में वैदिकदर्शन बौद्धदर्शन का स्थान ले लिया और और आजीविक संप्रदाय पूर्णरूपेण उस क्षेत्र से लुप्त हो गये। पुष्यमित्र के समय में मिथिला युजुर्वेद का केन्द्र हुआ करता था और शुंग भारद्वाज वंश के कृष्णयजुर्वेद के अनुयायी थे। अभी भी मिथिला में यजुर्वेदियों का यजुआर नामक गाँव वर्तमान है। मैथिल बौद्धधर्म और दर्शन को मौर्य के समय में भी ह्रदय से स्वीकार नहीं करते थे। परिणामतः मैथिलों को पुष्यमित्र के विजय से और उनको राज्यासीन होने से अत्यधिक प्रसन्न होना स्वभाविक था।[131]

पुष्यमित्र का काल इतिहास में ब्राह्मणकाल के नाम से भी जाना जाता है। यदि महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा निर्धारित वात्स्यायन के काल को स्वीकार करते हैं तो निश्चय ही मिथिला के इसी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में वात्स्यायन ने सूत्रोपरि भाष्य लिखा था। महामहोपाध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण भाष्य में प्रयुक्त अनिश्चयवाचक सर्वनाम यथा 'एके', 'केचित्', 'अन्ये' आदि के आधार पर कहते हैं कि भाष्य से पूर्व भी सूत्र की व्याख्या की गयी थी। इन अनिश्चायवाचक सर्वनामों का प्रयोग न्यायसूत्रभाष्य के सभी संस्करणों में देखा जा सकता है। वात्स्यायन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का भाष्य ही प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य है। वात्स्यायन अपने भाष्य में उनके मतों का उल्लेख करते है और अपनी व्याख्या को उन लोगों की व्याख्या से भिन्न करते हैं।[132]

भाष्यकार वात्स्यायन –

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ई. पू. 600 वर्ष से लेकर ई. पू. 200 वर्षों तक मिथिला के निकटवर्त्ती क्षेत्र में नास्तिक दर्शनों का बोल–बाला था। ई. पू. 600 वर्ष से पहले मिथिला में वैदिक दर्शन और वैदिक कर्मकाण्ड ही प्रचलित था। यही कारण है कि उसी क्षेत्र में सभी नास्तिक दर्शनों का भी उदय हुआ। वात्स्यायन से पूर्व की राजनैतिक स्थिति न्यायदर्शन के लिये अनुकूल नहीं थी। अक्षपाद गौतम के बाद मिथिला विदेह गणराज्य की राजधानी थी। विदेह गणराज्य के पतन के बाद मिथिला में क्रमशः बिम्बिसार के वंशज, शैशुनाग, नन्दवंश और पुनः मौर्यवंश का शासन रहा। विदेह गणराजय से लेकर मौर्यवंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ के समय तक आस्तिक दर्शन विशेषरूप से हिन्दून्याय के लिये प्रतिकूल समय था। मिथिला वज्जी गणराज्य की राजधानी हुआ करती थी। वज्जी गणराज्य के क्रमिक पतन और समाप्ति प्राचीन भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। मिथिला–क्षेत्र के राजनैतिक रंगमंच से वज्जी गणराज्य और लिच्छवी के प्रस्थान से साम्राज्यवाद के रूप में एक नई राजनैतिक व्यवस्था का जन्म हुआ। इस साम्राज्यवाद का प्रभाव उस क्षेत्र में न्याय–चिन्तन पर भी देखने को मिलता है। साम्राज्यवाद आने से सम्पूर्ण समुदाय की अभिरुचि और कल्याण सम्राट के अधीनस्थ था। सम्राट की सोच ही समाज पर प्रभावी थी। गणराज्य आ जाने से मिथिला की राजनैतिक महत्ता पहले ही कम हो गयीं थी। गणराज्य के समय में राजनीति का केन्द्र मिथिला से वैशाली चला गया और मगध साम्राज्य के उदय से वह केन्द्र पाटलिपुत्र हो गया। इस बदलाव का सीधा सीधी प्रभाव मिथिला के न्याय–चिन्तन और वैदिक संस्कृति पर पड़ा क्योंकि अधिकांश सम्राट या तो बुद्ध मत के अनुयायी थे या पुनः जैन मत के। मौर्य वंश के बाद पुष्यमित्र शुग के काल में न्यायशास्त्र और वैदिक संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ।[133]

इतिहासकार मिथिला में बौद्धकाल और आस्तिक दार्शनिकों के काल में भेद करते हैं। शूंगवंश का काल आस्तिक दार्शनिकों का काल और उससे पहले का समय बौद्धकाल या जैनकाल कहा जाता है। शूंग का काल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भाष्यकाल भी कहा जा सकता है क्योंकि उसी समय में पतंजलि पाणिनि सूत्र पर महाभाष्य लिखा था। योगसूत्र की व्याख्या भी उसी समय में की गयी थी और भाष्यकार वात्स्यायन का उदय भी उसी समय में हुआ था। मैथिल बौद्धसंस्कृति और दर्शन के विरोधी थे और यह विरोध न्यायदर्शन में दिखने लगा था। मिथिला में बौद्धदर्शन और न्यायदर्शन के बीच का तनाव बुद्ध के आगमन (बिम्बिसार के समय) से आरम्भ होकर मौर्य–वंश के पतन (ई.पू. 180) तक देखने को मिलता है। यह तनाव उद्योतकर के वार्तिक में स्पष्ट रूप से दिखती है। उद्योतकर के वार्तिक में बौद्धदर्शन विशेष रूप से वसुबन्धु और दिङ्नाग के प्रति जो प्रतिक्रिया हमें दिखाई देती है, उसकी तैयारी ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के तीन सौ वर्ष तक की पाँच सदियों में हुई थी। यह कहा जा सकता है कि मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का समय न्यायदर्शन का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण काल था और इसी समय में बौद्धदार्शनिक भी अपने न्याय के प्रति जागरुक हो गये थे और मैथिल नैयायिक बौद्धन्याय के विरोधी हो गये। मैथिल अभी भी अपनी बौद्धिक संपदा और संस्कृति के प्रति जागरुक हैं। सामान्य मैथिल भी यह कहने में संकोच नहीं करते कि न्यायशास्त्र मैथिलों की बौद्धिक संपदा है। सम्राट बिम्बिसार से लेकर बृहद्रथ तक मैथिल अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षमता का समुचित उपयेग नहीं कर पाये, इसीलिए पुष्यमित्र शुंग के आगमन से वे अत्यधिक उत्साहित थे; क्योंकि पुष्यमित्र मैथिलों के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक हितों के प्रखर समर्थक थे।[134] पुष्यमित्र शुंग स्वयं पाटलिपुत्र में रहते थे। वैशाली, मिथिला और संपूर्ण उत्तर भारत पर वे स्वयं शासन करते थे। इन क्षेत्रों के प्रशासन का वे स्वयं निरीक्षण करते थे।[135] उनके बाद (ई. पू. 187 से 151) उनके उत्तराधिकारी अग्निमित्र और वसुमित्र सफलतापूर्वक राज्य संचालित करते रहे। दुर्भाग्य से शूंग वंश के अन्तिम शासक वासुदेव की हत्या उन्हीं के अमात्य द्वारा कर दी गई। इस प्रकार शूंग वंश (ई. पू. 75 वर्ष) का राज्य समाप्त हो गया।[136]

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज भाष्य की संरचना और भाषा के आधार पर वात्स्यायन का काल ईसा से 200 या 300 वर्ष पूर्व मानते हैं। वे कहते हैं कि 'इति', 'अथ', 'खलु' और विशेष रूप से 'वै' पदों का प्रयोग भाष्य की प्राचीनता स्थापित करती है।[137] यहाँ यह कहना उचित होगा कि मिथिला में यह समय पुष्यमित्र शूंग का समय था। महामहोपाध्याय कविराज का यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कथन डॉ. विण्डिश के कथन पर आधारित है। डा विण्डिश के अनुसार महाभाष्य और न्यायभाष्य ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। डॉ. विण्डिश का यह मत दोनों ही ग्रंथों की संरचना और लेखन शैली पर आधारित है। वे कहते हैं कि दोनों ही ग्रंथों के वाक्य सारगर्भित हैं और वाक्य–विन्यास भी समान है। इस आधार पर और अन्य अनेकों तथ्यों के आधार पर वे कहते हैं कि न्यायभाष्य ईसा से 200 वर्ष पूर्व लिखा गया था।[138] इससे भाष्यकार वात्स्यायन का काल निर्धारित हो जाता है।

वात्स्यायन के भाष्य से पूर्व न्यायसूत्र एक वाद ग्रंथ मात्र था। उस समय न्याय एक दार्शनिक तन्त्र के रूप में विकसित नहीं हुआ था। दार्शनिक तन्त्र के रूप में विकसित होने के लिये पूर्वपक्ष आवश्यक है। न्यायसूत्र में पूर्वपक्ष का अभाव होने से सूत्रकाल में न्याय पूर्णतया दार्शनिक तन्त्र के रूप में विकसित नहीं हुआ था। उसे पूर्णरूप से दार्शनिक तन्त्र के रूप में विकसित करने का श्रेय वात्स्यायन को जाता है। वात्स्यायन न्यायसूत्र की अन्य व्याख्याओं का उल्लेख कर उन व्याख्याओं से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। मिथिला के निकट बुद्ध और वर्धमान महावीर के आगमन से न्याय का संपर्क दर्शन के अन्य तन्त्रों के साथ होने से अन्य तन्त्र भी उससे प्रभावित हुए और साथ–साथ न्याय भी अन्य तन्त्रों से प्रभावित हुआ। इस प्रकार भाष्यकार के समय में न्याय एक समग्र दार्शनिक तन्त्र के रूप में विकसित हो गया।[139] द्वितीयतः भाष्यकार अपने से पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों के मतों का खंडन करते हैं।

वात्स्यायन अपने भाष्य में मनस को एक इन्द्रिय मानते हैं और उनके इस मत को दिङ्नाग खंडित करते हैं। अतः भाष्यकार वात्स्यायन का आविर्भाव दिङ्नाग से पहले हुआ होगा।[140] चूँकि दिङ्नाग का समय 500 ई. के आस पास माना जाता है और वसुबन्धु का समय 480 ई. के आस पास और ये बौद्ध नैयायिक वात्स्यायन के मतों को खंडित करते हैं; अतः वात्स्यायन का समय दिङ्नाग और वसुबन्धु के बाद कहना संगत नहीं है। इससे भी कविराज का मत सिद्ध होता है।

सूत्रोपरि भाष्य लिखने की परम्परा रही है और भाष्य से सूत्रार्थ स्पष्ट किया जाता है। न्यायसूत्रोपरि वात्स्यायन का भाष्य है। वसुबन्धु और दिङ्नाग इस न्यायभाष्य की आलोचना करते हैं। अनन्तलाल ठाकुर कहते हैं कि वात्स्यायन के बाद ही न्याय और बौद्ध एक दूसरे के विरोध में लिखने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लगे। इन दोनों के बीच का सैद्धान्तिक विरोध अत्यन्त ही व्यवस्थित था। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच के सैद्धन्तिक विवाद से दोनों ही सम्प्रदायों को लाभ हुआ। भाष्योपरि भारद्वाज उद्योतकर का वार्तिक उपलब्ध है और वे वसुबन्धु तथा दिङ्नाग के मत का खंडन करते हैं। बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति पुनः उद्योतकर के मत का खंडन करते हैं। वाचस्पति मिश्र धर्मकीर्ति के मत का खंडन करते हैं तथा न्याय मत स्थापित करते हैं। बौद्ध नैयायिक ज्ञानश्रीमित्र वाचस्पति मिश्र के मत का खंडन करते हैं तथा उदयनाचार्य ज्ञानश्रीमित्र के मत को खंडित कर न्याय का पक्ष स्थापित करते हैं। विदेशी आक्रान्ता (संभवतः वख्तियार खिलजी) द्वारा नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय नष्ट किये जाने के बाद बौद्ध इस क्षेत्र से चले गये और इससे नैयायिक तथा बौद्ध के बीच का संवाद भी समाप्त हो गया। बौद्ध पक्ष के अभाव में न्याय पक्ष का बौद्धिक विकास भी शिथिल हो गया।[141]

न्याय में बौद्ध प्रतिपक्षी का प्रवेश—

अक्षपाद गौतम के समय से ही बुद्ध और उनके अनुयायी क्रमिक रूप से न्याय के विरोधी हो गये। वसुबन्धु और दिङ्नाग से पूर्व के बौद्ध नैयायिक गौतमीय न्यायदर्शन से प्रभावित थे। वे बौद्ध नैयायिक न्यायसूत्र में उल्लिखित प्रमाणमीमांसा का ही अनुसरण करते थे। दिङ्नाग से पहले के बौद्ध नैयायिक महर्षि गौतम द्वारा प्रतिपादित सोलह पदार्थों को स्वीकार करते थे। बौद्ध नैयायिक भी अक्षपाद द्वारा प्रतिपादित चार प्रकारक प्रमाण, पंचावयवी अनुमान और हेतु के पाँच लक्षण स्वीकार करते थे। वसुबन्धु और दिङ्नाग ने यह पाया कि गौतमीय न्याय का अनुसरण करने से बौद्धदर्शन का मौलिक सिद्धान्त खंडित हो जाता है तब से वे लोग गौतमीय न्याय का विरोध करने लगे। अतएव दिङ्नाग के समय में ही बौद्धन्याय में मूलभूत परिवर्तन आया है और वे गौतमीय न्याय के खंडन में युक्ति देने लगे और बौद्ध के मूल सिद्धान्त के अनुकूल अपना न्याय स्थापित करने लगे। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी दर्शन है और गौतमीयन्याय स्थैर्यवादी दर्शन है। इस प्रकार वैश्विक धरातल पर बौद्ध और न्याय एक दूसरे के विरोधी होने से बौद्ध न्याय स्थापित करना बौद्धों के लिये आवश्यक हो गया था।[142]

भाष्यकार के बाद बौद्ध नैयायिक अपने दर्शनों के अनुसार अपना न्याय विकसित करने लगे और अक्षपाद गौतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन के समय में वे गौतमीय न्याय का विरोधी हो गये। बौद्ध नैयायिकों का गौतमीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

न्याय का विरोधी होना मिथिला की न्यायपरंपरा में प्रथम संक्रान्ति–काल कहा जा सकता है। यही कारण है कि भाष्यकार वात्स्यायन के बाद वार्त्तिककार उद्योतकर बौद्धन्याय का खंडन करते हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन कौन थे और कहाँ के निवासी थे ?

यह भाष्यकार वात्स्यायन कौन थे और कहाँ के निवासी थे ? इतिहासकार अनेक पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर कहते हैं कि वात्स्यायन मिथिला के निवासी थे। इसके अतिरिक्त भाष्य में एसी पंक्तियाँ और उदाहरण हैं जो आज भी मिथिला में प्रचलित है। वात्स्यायन छल के उदाहरण में 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' का प्रयोग करते हैं। पुनः अनुमान परीक्षा प्रकरण के सूत्र संख्या 2।1। 37 में मिथ्या अनुमान के उदाहरण में निम्न उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– 'रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते। तदा चोपरिष्टाद् वृष्टो देव इति', 'नीडोपघातादपि पिपीलिकाण्डसंचारो भवति। तदा च भविष्यति वृष्टिरिति।', 'पुरुषोऽपि मयूरवासितमनुकरोति'। मिथ्या अनुमान के इन उदाहरणों के विषयीभूत मिथिला में ही पाये जाते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर पंडित ज्वालाप्रसाद गौड अपनी न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की विलासिनी टीका में कहते हैं कि न्याय भाष्यकार वात्स्यायन मैथिल बाह्मण ही थे।[143]

क्या भाष्यकार वात्स्यायन और कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन तथा अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य एक ही व्यक्ति का नाम था ? इस प्रश्न के उत्तर में विविधता पायी जाती है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज कहते हैं कि भाष्यकार वात्स्यायन, कामसूत्र के रचनाकार वात्स्यायन तथा अर्थशास्त्र के रचनाकार कौटिल्य एक व्यक्ति नहीं थे। उनके अनुसार कामसूत्र वात्स्यायन के न्यायभाष्य के बाद लिखा गया था। अतएव यह कहना उचित नहीं है कि कामसूत्र के रचनाकार वात्स्यायन और भाष्यकार वात्स्यायन एक ही व्यक्ति थे। पुनः आन्वीक्षिकी के प्रति कौटिल्य की दृष्टि और भाष्यकार वात्स्यायन की दृष्टि भी भिन्न है। अर्थशास्त्र और भाष्य की भाषायी संरचना तथा शैली भी भिन्न है। इन मान्यताओं के आधार पर गोपीनाथ कविराज कहते हैं कि इन तीनों को एक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है।[144]

इस प्रश्न के उत्तर में हिन्दी साहित्यकार जयशंकर प्रसाद का मत महामहोपाध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषण और महामहोपाध्याय गोपीनाथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कविराज दोनों के मतों से भिन्न है। जयशंकार प्रसाद अपने चन्द्रगुप्त नामक नाटक के परिचय में कहते हैं कि कौटिल्य ही वात्स्यायन के नाम से भी जाने जाते थे और वे मिथिला के निवासी थे। उनका यह मत जैन तार्किक हेमचन्द्र के अभिधान नामक पुस्तक पर तथा अर्थशास्त्र में दिये गये आन्वीक्षिकी की परिभाषा और न्यायसूत्रभाष्य में दिये गये आन्वीक्षिकी की परिभाषा की साम्यता पर आधारित है। जयशंकर प्रसाद लिखते हैं कि वात्स्यायन और चाणक्य एक ही थे और वे मैथिल ब्राह्मण थे। हेमचन्द्र के अनुसार पक्षिलस्वामी (पक्षिलस्वामी) और चाणक्य एक ही व्यक्ति का नाम है। कौटिल्य (चाणक्य) अपने अर्थशास्त्र में कहते हैं कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति ही चार विद्या हैं।[145] वे कहते हैं कि आन्वीक्षिकी जिसे न्यायशास्त्र भी कहते हैं वे सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय है।[146] यही पंक्ति वात्स्यायन के न्यायसूत्रभाष्य में भी पाया जाता है।[147] दोनों में भेद इतना मात्र है कि भाष्य में इस श्लोक के चतुर्थ पाद में 'विद्योद्देशे प्रकीर्तिता' कहा गया है और अर्थशास्त्र में 'शाश्वदान्वीक्षिकी मता' कहा गया है। इसी साम्यता के आधार पर जयशंकर प्रसाद चाणक्य और वात्स्यायन को एक ही व्यक्ति कहते हुए उस व्यक्ति को मैथिल ब्राह्मण कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मिथला की यह बौद्धिक सम्पदा ईशा से कम से कम 300 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पूर्ण विकसित हो चुकी थी और अद्यावधि भी यह शास्त्र इस क्षेत्र में प्रचलित है।

वात्स्यायन का समय ई. पू. 200 वर्ष के आसपास निर्धारित किया गया है। इतिहासकार अनेक पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर उद्योतकर का समय 635 ई. के आसपास मानते हैं। उद्योतकर न्यायमत स्थापित करने के लिये बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग द्वारा प्रमाणसमुच्चय मे प्रतिपादित मतों का खंडन करते हैं।[148] अद्यावधि प्रकाशित न्यायग्रंथों के अनुसार मैथिल नैयायिक भारद्वाज उद्योतकर भाष्योपरि वार्त्तिक लिखकर इस न्यायपरंपरा को आगे किया था। वात्स्यायन और उद्योतकर के बीच 800 वर्षों का अन्तराल है। अतः प्रश्न उठता है कि (1) क्या इन 800 वर्षों तक मिथिला में न्यायशास्त्र के ग्रंथों का लेखन नहीं हुआ था? (2) क्या उद्योतकर अपने वार्त्तिकम् में वात्स्यायन के भाष्य की अन्य व्याख्याओं का उल्लेख करते हैं जिससे यह कहा जा सके कि वात्स्यायन और उद्योतकर के बीच में भी मिथिला में नैयायिक हुए थे? (3) क्या मिथिला में उस अवधि में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति आस्तिक दर्शन विशेष रूप से न्यायदर्शन के अनुकूल नहीं थी ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये पुनः शूंगवंश (ई. पू. 187 वर्ष – ई. पू. 75 वर्ष) के बाद के मिथिला का इतिहास टटोलना आवश्यक हो जाता है जिससे कि मिथिला में 800 वर्षों की राजनैतिक, सामाजिक उतार–चढ़ाव के बीच दर्शन की स्थिति का ज्ञान हो सके। शुंगवंश के अन्तिम शासक देवभूति को ई. पू. 75 वर्ष में उनका अपना ही अमात्य वासुदेव ने हत्या कर दी थी और इस प्रकार मगध और मिथिला में शुंगवंश के शासन का अन्त हो जाता है। शुंगवंश के बाद मगध और उसके समीपवर्त्ती क्षेत्र मिथिला में काण्ववंश का शासन आरम्भ होता है। काण्व और सातवाहन का समय राजनैतिक अनिश्चितता का समय कहा जाता है। राजा स्वयं स्थिर नहीं थे, परिणामतः किसी भी दर्शन संप्रदायों के बौद्धिक विकास के लिये यह उपयुक्त समय नहीं था। फिर भी भाष्यकार और वार्तिककार के बीच 800 वर्षों के अन्तराल के ऐतिहासिक कारणों की खोज–बीन एक गहन ऐतिहासिक सर्वेक्षण की अपेक्षा रखता है।

सी-1/69, रैडिसन होटल के पीछे,
सेक्टर-55, नोएडा-201301 (उ.प्र.)

सन्दर्भ –

1. *Keeping with the tradition of Janaka and Yajnavalkya, Mithila's contribution to the realm of philosophy, Nyaya and Mimamsa is unique. It has been rightly held that Mithila contributed to the intellectuals aspects of Hinduism. The rise of Nyaya-Vaisesika, as forming part of one discipline, presupposes a long previous development of philosophical thought. Vaisesika and Nyaya form a closely connected pair. ....The Nyaya-Vaisesika system is satisfied with pointing out the means of salvation as consisting in correct knowledge. This system admits of nothing invisible or transcendent. The system did not originally accept the existence of God and expounded the theory that salvation depended on a correct knowledge of things......Vatsyayana write his Bhasya on Nyayasutra. Udyotakara wrote his Varttika on Bhasya and Vacaspati not only elaborated the concept of Varttika but also defended them against the Buddhist attack. (The Political*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

and Cultural Heritage of Mithila,Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Foundation, Darbhanga, pg 320)

2. वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात् तत्र च व्यावृत्य स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाषात्। *(खंडनखंडखाद्यम् , श्रीहर्ष , संपादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन , पृ. 124)*
3. गोविन्दनन्दनतनया च वपुःश्रिया च, माऽस्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः। *(खंडनखंडखाद्यम्, श्रीहर्ष, संपादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, पृ 811)*
4. *"Even Lakhima is said to have written a treatise on Navya-Nyaya entitled Padartha-chandra." (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Foundation, Darbhanga, pg 321)*
5. *He was a great patron of the hermits and wandering philosophers who propogated the new mystical doctrines of the Upanisads, and he himself took part in their discussions. (A L Basham, The Wonder That Was India, Third Edition, Picador, pg 41)*
6. *Among the older sixteen big states figured the Vajjis who, before the time of Buddha, constituted themselves into a confederacy of eight republics (atthakula) of which the most important was the Videhas, the Jnatrikas, and the Lichchavis, along with the Vajjis proper. . . . Videha, as we have already seen, originally started as a kingdom, and stronghold of Vedic culture as represented in its exponents, King Janaka, and Rishi Yajnavalkya. It is interesting to find that tradtion which represents Videha as a monarchy, with its many distinguished kings, describes it as a republic in the Buddha's time. . . .Its capital was Mithila with its four market towns at its four gates, a centre of trade in the Buddha's time. (Hindu Civilization, Radha Kumud Mookerji, Longmans, Green and Co., pg 201, 1936)*
7. *The alliance of Videha was sought after by distant kings for the virtues of its girls. One of the wives of Bimbisara, according to the Amitayurdhyana Sutra, was Vaidehi Vasvi who saved his life by carrying food to him when imprisoned by Ajatasatru . . . . The mother of Vardhamana Mahavira, founder of Jainism, was a Videhan named Videhadatta, also called Trisala, and Priyakarini." (Hindu Civilization, Radha Kumud Mookerji, Longmans, Green and Co., pg 202, 1936)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

8. *Tirhut is one of the most anscient landmarks in Indian history. It has a glorious past of which any civilized nation and country may be justly proud. The anscient Tirhutians and their kings were as renowned for their love of learning as they were feared for their prowess in arms. They were as rich in their material possessions as in their mental and spiritual endowments." (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pg 1, 1922)*
8. *The last in the line was Karala Janaka (Janaka the terrible) and is known to us from the Buddhist and Brahminical sources. We learn from Nimi Jataka (no 541) that he brought his line to an end. Kautilya says that Karala Videha perished a long with his kingdom and relations for a lascivious attempt on a Brahmana maiden. Asvaghosa also confirms the statement of Kautilya. It appears that the later Videha kings preferred luxury to the welfare of the people. Karala was attacked and killed by his subjects." (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, pg 12)*
9. *After Karala Janaka, monarchy was abolished in Mithila and republic was established. The Videhas joined the confederacy of the Vajjians. In the Buddhist literature, Videha is mentioned as a republic. (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, Pg 14)*
10. *Though Rama is ignored in the literature of the period his traditional father-in-law, Janaka king of Videha, is more than once mentioned and is clearly a historical figure. He was a great patron of the hermits and wandering philosophers who propogated the new mystical doctrines of the Upanisads, and he himself took part in their discussions. By the time of the Buddha the kingdom of Janaka had disappeared, and the capital city, Mithila, had lost its importance. The kingdom was replaced by the tribal confederacy of the Vajjis, headed by the Lichchavis. (A L Basham, The Wonder That Was India, Third Edition, Picador, pg 41)*
11. *The Videhas were young republic at the time of Buddha and formed an important part of the Vajjian confederacy. It is on account of the predominance of the Lichchavis in Buddhist*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

literature that the Videhas have been overshadowed and even scholars have not paid due attention to the point. The Videhas were as important as the Lichchavis and they appear to have retained their independence with their capital at Mithila. (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, Pg 14 - 5)

12. *The Videhas were a large republic and in internal affairs they appear to have retained their freedom intact as we have no direct evidence to suggest that the Lichchavis and the Videhas had joint excutive body. (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, Pg 15)*
13. *It appears that, at the initiative of the Lichchavis, a confederacy of all republican states was organized with the sole intention of making a last bid for the existence of the republican states in the face of growing imperialism. . . The creation of the Vajjian confederacy at the time of Buddha seems to have been the direct result of the threat of rising monarchies. ((The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, pg 22)*
14. *The decline and fall of the Vajjian Confederacy constitutes a land-mark in the history of anscient India. The political exit of the Lichchavi from the north Indian stage ushered in a new era - the era of full-fledged imperialism. The republican forces having been subdued one by one, the interest and welfare of the entire clan were now subordinated to the ambition of a single monarch or conqueror. It was in the wake of this new force that the foundations of big empires began to be laid. Magadha, with Bimbisara, and later on his son Ajatasatru, was the first power to mobilise its forces in this direction. This unprecedented change in the political set-up was a signal to the shape of things to come. The centre of political gravity, which had already shifted from Mithila to Vaisali in the preceding age, shifted now to Pataliputra, the citedal of the Magadhan empire. (History of Mithila, Upendra Thakur, 2nd Edition, Mithila Institute, Darbhanga, pg 93, 1988)*
15. *After the defeat of the Vajji confederacy, their fate was the*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

same as that of the Lichchavis. The Videhans were included in the Magadhana empire before the Mauryan period." (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, Pg 16)

16. *While the doctrines of the Upanisads found a place in the brahmanic system, there were other teachings which could not be harmonized with orthodoxy, but were fostered and developed by heterodox sects. Chief among the teachers of such doctrines was the man who at the end of the sixth and the beginning of the fifth century B. C. established a community of yellow-robed followers, and was known by them as the Buddha, Enlightened or Awakened. (The Wonder That was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 258)*
17. *Its social and political effects were of immence importance. Political effects of Jainism and Buddhism were of greatest importance in our history. They directed criticism against the Brahmnical oligarchy." ((History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 23)*
18. *The Wonder That Was India, A L Basham, Picador, pg 264.*
19. *2 there were two kingdoms to the north of the Ganges, viz, Vaisali and Mithila. But the dividing line between them has not been indicated. For all broad purposes, it appears, however, that both the kingdoms came to be known under the general name of Tira-bhukti which is said to have had more extensive boundaries than modern Tirhut, a name which is used as its equivalent." (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pp 1-2, 1922)*
20. *It is bounded in the east by Kausiki (modern Kosi), on the west by Saligrami or Narayani (modern Gandaka), on the south by the river Ganges and on the north by the Himalayan tracts. It comprises the modern districts of Muzaffarpur, Darbhanga, and parts of the districts of Monghyr, Bhagalpur, and Purnea. (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pp 2-3, 1922)*
21. *The areas round Videha and Vaisali came to be jointly called Tirabhukti in the Gupta period. Traditionally it is called Tirbhukti because it is regarded as a land of three mythical sacrifices at the birth of Sita, at Dhanukha and at Janakapur.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

It extends upto the bank of Ganges. It denoted the biggest administrative unit under the Guptas ruled by a royal prince. (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Fundation, Darbhanga, Pg 16)

22. *It may be interesting to know that the excavation at Basarha in the Muzaffarpur district (cir 1903 A D) seals were discovered bearing the name Tira-bhukti and dating back to the 4th century A D. Some of these seals are attached to letters, addressed to officers, described as being then in charge of Tira-bhukti. (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pp 5, 1922)*

23. *"Mithila was the centre of earliest Brahmanical civilization... It is perhaps the only centre which has been able to preserve its cultural continuity since the beginning of Aryan civilization. It has not till now lost the tradition of its brilliant culture of the past.... the Videhans had their capital at Mithila. It is to Videgha Mathava that the Brahmanisation of this region is attributed and he probably its earliest recorded monarch." (History of Bihar, Radhakrishna Choudhary, Published by Shanti Devi, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 2 - 3, 1958)*

24. *"Scholars generally believe that Jainism like Buddhism was borne of discontent and hatred against Brahmanism. The fact, however, remains that the orthodox Brahmanas in general were not so hostile to Jainism as they had been towards Buddhism throughout the centuries." (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 85)*

25. *Political effects of Jainism and Buddhism were of greatest importance in our history. They directed criticism against Brahmnical oligarchy. (History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 23)*

26. *"He was born at Kundagrama, one of the three districts of Vaisali and belonged to the Jnatrika clan. He, therefore, came to be known as Vesalie or Vaisalika meaning a native of Vaisali, or the first citizen of Vaisali. His father, Siddhartha, was the chief (kulapati) of the Naya clan (Jnatrika clan) Whose wife Trisla was the sister of chetaka, king of Vaisali.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

She is called Vaidehi, or Videhadatta, because she belonged to the family of Videha, and hence Mahavira is also known by various maternal names such as Videha, Vaidehadatta, Videhajatya, Videhasukumara." (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 81)

27. *A L Basham, The Wonder That Was India, Third Edition, Picador, pg 289-90*
28. *Mahavira encouraged his followers in the study of the Purvas and in developing their power of reasoning and arguing. From the Buddhist records we learn that there were some able and powerful disputants among the Nirgranthas recluses and lay-disciples. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 88)*
29. *At about 400 A D, began an epoch when they seriously took up the problems of logic, and all the text-books on the Jainas and the Buddhist systems of logic date at or after that time. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 88)*
30. *Vidyananda, a Digambara logician of Pataliputra (c 800 A D) has been mentioned by the great Hindu philosopher, Madhavacarya in his Sarvadarsana-samgraha." (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 90)*
31. *Bhogas, the Ksatriyas, and the Lichchavis went to receive Arittha or Aristanemi (the king of Videha), the twenty-second Tirthankara when the latter had been to the city of Bharavi. And, this was also the case with the Ganarajas of Kasi and Kosala. Bimbisara, Nandas, Chandragupta Maurya, Samprati, Kharavela and other powerful rulers are also represented to have been associated with the Jaina church of Mahavira in the successive periods. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 96-7)*
32. *Lichchavis had a distinct sympathy and respect for the Jainas.(Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 95)*
33. *Besides the Videhans, the Lichchavis, along with the Jnatrikas must have come directly under the influence of the*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

teaching of Mahavira. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 95)

34. *Sixth century B. C. marks a cardinal epoc in the history of the world. It was remarkable for the spiritual unrest and intellectual fermant in many countries. We had Lao Tzu and Confucius in China; Permenides and Empedocles in Greece; Zarathustra in Iran and Mahavira and the Buddha in India, who worked upon their inheritance, developed new points of view and announced new religion and philosophy which marked a turning point in the history of human civilization and thought. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 105)*

35. *He rejected the authority of the Vedas and inculcated reverence for saints. He challenged the supremacy of the Brahmanas. His moral principles were not accompanied by metaphysics. He considered man as the arbiter of his own destiny. (History of Bihar, Radhakrishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India,New Delhi, Acc No 75557, pg 22)*

36. *There is first a reference to the meeting of Bimbasara and Gotama. The title Gotama shows that he was not then the Buddha. It was seven years earliers, just after his renunciation Bimbisara was then at Girivraja. Their next meeting took place later when Bimbisara had moved to his new palace or city, Rajagriha. Even at the first meeting, before Gotama was a Buddha, the king was so much impressed by him that he offered to settle him as a chief with necessary gifts of wealth. Among other proofs given of Bimbasara's devotion to Buddhism may be mentioned his appointment of his personal physician, Jivaka, as the physician in attendance on the Buddha and his Order, or his remission of ferry charges for asceticsout of regard for the Buddha who once had with him no money to pay to the ferryman for crossing the Ganges. (Hindu civilization, Radha Kumud Mookerji pg 187-8)*

37. *The rise of Buddhism gave birth to the monastic order of the world. The order commanded worldwide reputation and was based upon democratic principles. This was the greatest*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

religious corporation the world has ever seen." ((History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 23)

38. *Against this changing social and religious background it is claimed that inspite of the great popularity of the Buddha and his new creed, Mithila, the land of the Videhas, could successfully ward off the so-called pernicious influence of this new Order, and that the atmosphere of the Hindu Society in general was quite calm, peaceful and devotional. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 108)*

39. *That the land of the Videhas markedly influenced by the new Order is manifest from the numerous references contained in anscient literature. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 108)*

40. *But, barring western Mithila, Buddhism in its later phase does not seem to have strong foothold in Mithila proper. It is no doubt true that the first popular wave of Buddhism shook the entire country out of its bottom, and that the spread of new Order passed more or less unchallenged as an accomplished fact. But, when the followers of Buddhism began to attack the anscient Vedic traditions right and left with their arguments borne out of jealousy and hatred, the Maithila scholars shook of their complacency, essayed and reinforced the tottering edifices by taking up the new challenge in its letter and spirit. They bade good-bue to their spiritual persuits for the time being and concentrated their entire energy on the preservation of their anscient culture and tradition. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 110)*

41. *Coming to the scholarly and logical disputations between the followers of Brahmanism and Buddhism, we find that the exponents of these systems wrote numerous books refuting the views of their opponents.The thinkers of these schools were accustomed often to meet together and defeat their rivals in actual debates. The result of these wordy wranglings frequently proved very important in determining the prestige of a school of thought. For example, if a Buddhist logician*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

defeated greater Nyaya or Mimamsa thinker in a great public debate, attended by learned scholars from every part of the country, his fame at once spread all over the country and he could also secure a large number of followers on the spot. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 117)

42. *Thus, it was in the wake of this new trend of debating and speculative currents and cross-currents in the world of intellect that the systematization of Nyaya in the Sutra form was completed by Gautama or Aksapada during this period of intellectual turmoil and unrest. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 117)*
43. *This ushered in a new era of logical disputations and it may rightly be said that the bitter clash between these two conflicting for ages was ultimately responsible for the tremendous growth of unprecedented advance in Indian logical system. If Magadha was the birth-place of Buddhist logic, Mithila was similarly the citadel of Brahmanic philosophy. . (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 110)*
44. *The following period saw the recrudescence of Brahmanic learning and culture under Sunga monarchs. Buddhism now lost official patronage and was replaced by Brahmnism. From the Buddhist account it is clear that Pusyamitra Sunga was a persecutor of the Buddhists. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 111-2)*
45. *Asoka's patronage contributed much to the spread of Buddhism within the empire and outside, but he too could not meet the Brahmanic reaction effectively. According to some writers, the Buddhists priests from Magadha and Tirhut (Vaisali) went in large numbers to preach their religion to Tibet during his time. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 111)*
46. *Nonetheless, the orthodox Maithilas seem to have been adment in their anti-Buddhistic attitude, and one of the causes*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

leading to the fall and break-up of the Magadhana empire was no doubt the violent Brahmanic reaction. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 111)

47. *Gautamiputra Satakarni, though himself a Hindu, made liberal grants and donations to the Buddhist institutions which is evident from the literary and artistic works of the period. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 112)*

48. *Kaniska's reign is a land-mark in the history of Buddhism. A great patron of Buddhist religion, he also associated himself with a galaxy of Buddhist masters who shaped Buddhism in later times. It was in this period that the Indo-Greek School of Buddhist art, i.e., the Gandhara School, achieved its greatest development. Moreover, a new form of Buddhism, the Mahayana, of far reaching consequence, also came to be evolved at the same time, and the third Great Council was also convened during his reign. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 112)*

49. *The advent of the Gupta dynasty also gave a new impetus to Buddhism. Although Bhagavatas by faith, the Gupta monarchs were sympathetic towards the cause of Buddhism. A number of important inscriptions beginning from the fifth century A D till the end of the sixth, and a large number of records by the Chinese pilgrims and others from the middle of the seventh century A D throw a good deal of light on the condition of Buddhism in this period. It had reached its height in extent; the great centres of Buddhist study like Nalanda and Valabhi were still keeping the light burning vigorously and Harsa's conversion to Mahayana Buddhism lit the flames once again. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 113)*

50. *But, nowhere is it mentioned that these zealous champions of Buddhism succeeded in converting the orthodox section of the Brahmanas to their faith. On the other hand, the wordy war between the protagonists of the two systems was still going on in full vigour, and evidences tend to show that Buddhism,*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

unable to bear the Brahmanic onslaughts, defeated and discomfitured, was gradually retreating from the very land of its birth, and was sooner or later confined to Kashmir; Swat Valley, Valabhi and other places on the north in a none-too prosperous condition. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur; Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 113)

51. *Even during the time of Harsa, the Great Order with all its royal patronage, omitted certain dangerous symptoms of decay. Yuan Chwangs's accounts leave us in no doubt that something had gone terribly wrong with the vast religious empire reared up by the genious and life-blood of the Buddha. In 635 A D pilgrim visited Tirhut (Mithila and Vaisali) and found Buddhism waning in that region. On the other hand, Jaina Digambaras were in a large number at Vaisali, Pundravardhana and Samatata. Brahmanism had asserted its complete supremacywith its strongholds at Mithila, Kasi, and Prayaga during this time which is evident from Yuan Chwang's reference to India as the 'country of the Brahmanas' (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur; Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 113)*

52. *It is said that Arjuna or Arunasva, Just after Harsa's death, insulted and injured the second Buddhist Chinese mission of Wang-hiuen-tse. The latter thereupon fled to Nepal and returned with a large army consisting of 1200 picked Tibetan soldiers supplied by the The Tibetan king Srong-btsan-gampo and supported by a Nepalese contingent of 7000 horsemen. The combined army stormed Tirhut and the horrible cruelty and rapaciousness with which the Chinese envoy massacred the inhabitants of Tirhut reflect little credit on a Buddhist mission.. . . . Full of revenge, the envoy with the combined support of the Tibetan and the Nepalese kings (who were strong adherents of Buddhism) attacked the Brahmanic chief, defeated him and massacred the Brahmanic inhabitants of Tirhut. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur; Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 114)*

53. *While Buddhism was thus slowly disapppearing from the land of its birth, it witnessed another great, though temporary,*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

revival under the patronage of the Pala monarchs. Most of these rulers were evout Buddhists and innumerable pieces of art of this period have been discovered in Mithila and elsewhere. These Pala kings were also responsible for new endowments to the Nalanda monastery and for the foundation of new monasteries such as Vikramasila, Odantapuri and Somapuri, which dominated the whole of the Buddhist world nearly for six centuries, from the sixth to twelfth century A D, i.e., till the advent of the Muslims, when the conquests of Bakhtyar Khilji in Eastern India (Bihar and Bengal) put finish to this long, long story. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 116)

54. *A third unorthodox sect which emerged at the same time as Buddhism and Jainism was that of the Ajivikas, a body of ascetics who were under a rigourous discipline similar to that of the Jainas, and who also practiced complete nudity. The doctrines of the founder of the sect, Gosala Maskariputra, bear a generic likeness to those of his contemporary and former friend Mahavira. Like Mahavira, he looked back to earlier teachers and ascetic goups, whose doctrines he refurbished and developed. According to both Buddhist and Jaina tradition he was of humble birth; he died a year or so before the Buddha, about 487 B.C., after a fierce altercation with Mahavira in the city of Sravasti." (The Wonder That was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 297)*

55. *No scriptures of the Ajivikas have come down to us, and the little we know about them has to be reconstructed from the polemic literature of Buddhism and Jainism. The sect was certainly atheistic, and its main feature was strict determinism. The usual doctrine of Karma taught that though a man's present condition was determined by his past actions he could influence his destiny, in this life and the future, by choosing the right course of conduct. This the Ajivikas denied. The whole universe was conditioned and determined to the smallest detail by an impersonal cosmic principle, Niyati, or destiny. It was impossible to influence the course of transmigration in any way. (The Wonder That was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 297)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

56. *After a period of prosperity in Mauryan times, when Asoka and his successor Dasaratha presented caves to the Ajivikas, the sect rapidly declined, and only retained some local importance in a small region of Eastern Mysore and the adjacent Madras, where it survived until the 14th century, after which we hear no more of it. (The Wonder That was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 297)*
57. *As early as the time of Buddha, if not before, the universe was classified by elements, of which all schools admitted at least four - earth, air, fire and water. To these orthodox Hindu schools (particularly Nyaya) and Jainism added a fifth, akasa, which is generally translated 'eather'. It was recognized that air was not of infinite extension, and the Indian mind, with its abhorance of a vacuum, found it hard to conceive of empty space. The five elements were thought of as the mediums of sense impressions - earth of smell, air of feeling, fire of vision, water of taste, and eather of sound. Buddhists and Ajivikas rejected eather, but the latter added life, joy and sorrow, which were thought of as in some way material, making a total of seven elements. (The Wonder That was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 498 - 99)*
58. *The ground for the development of non-Brahmanical religious sects in India was prepared before the 6th century B. C. (History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 23)*
59. संस्कृति के चार अध्याय, पृ 159, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003
60. संस्कृति के चार अध्याय, पृ 160, लोकभारती प्रकाषन, इलाहाबाद, 2003
61. *History deals with the past of a people or country and not with its present or future. It deals with what has been, and not with what is, or what ought to be. It records realities, actual events, or accomplished facts, and nothing to do with ideals with which subjects like Ethics, or Poetry, Art, and Literature. . . . Politics has been defined as the fruit of the tree of which History is the root. The character of History as a subject of study determines the method proper for its study. As it records and recalls the past, it must do so faithfully like a mirror or a photograph, showing in its true contours and colours the object it brings before the eye. In dealing with the events or facts of the past, it must first ascertain them correctly and let*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

them speak for themselves. This means that history is entirely bound by its material. It cannot modify or improve uponit." (Hindu Civilization, Radha Kumud Mukerji, Longmans, Green and Company, London, pg 1, 1936)

62. *The fact, generally speaking, was that Tirhut being comparatively free from foreign invasion, was able to give protection to a large number of scholars from adjoining countries, such as Oudh, Bihar and Bengal, which were being ravaged by invaders. This cultivation of Sanskrit scholarship in the 13th century A D in Tirhut had a marked effect on Bengal as people used to come in large numbers to Mithila to learn Sastras." (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pp 82, 1922)*

63. *Mithila was the centre of earliest Brahmanical civilization. . . . It is perhaps the only centre which has been able to preserve its cultural continuity since the beginning of Aryan civilization. It has not till now lost the tradition of its brilliant culture of the past.... the Videhans had their capital at Mithila. It is to Videgha Mathava that the Brahmanisation of this region is attributed and he is probably its earliest recorded monarch.(History of Bihar, Radhakrishna Choudhary, Published by Shanti Devi, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 2 - 3, 1958)*

64. *The land of Mithila proved to be the most fertile soil for the two Systems of philosophy - Nyaya and Mimamsa - to thrive on. From Gautama to Gangesa Upadhyaya is a fascinating story of the tremendous growth and development of these systems of philosophy which germinated and blossomed forth into an everexpanding quest for knowledge, truth and ultimate reality touching all problems of human mind. Besides Nyaya, the philosophy of Mimamsa found its three great exponents in Kumarila, Prabhakara, and Murari, culminating in three different schools. (History of Mithila, Upendra Thakur, Second Edition, Mithila Institute, Darbhanga, pg 521, 1988)*

65. *The glory of Mithila was at its height, and its fame spread throughout all centres of oriental learning in India. Thus Mithila was the principal seat of Hiṇdu learning in the 13th , 14th and 15th centuries A. D. and the resort of a large numbers of students who flocked there from all parts of India to study specially Logic or Nyaya philosophy. (A History of*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprinted by Motilal Banarsidass, pp 522)

66. *It is thus very likely that the earliest beginnings of Nyaya are to be found in the disputations and debates amongst scholars trying to find out the right meanings of the Vedic texts for use in the sacrifices and also in these disputations which occurred between the adherents of different schools of thought aiming at defeating and discomfituring one another. Such disputations took place in the age of the Brahmanas and the Upanisads and the art of disputation was regarded even then as a subject of study. (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Darbhanga, Second Edition, pg 511)*

67. *Thus, it was in the wake of this new trend of debating and speculative current and cross-current in the world of intellect that the systematization of Nyaya in the Sutra form was completed by Gautama or Aksapada during this period of turmoil and unrest." (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Darbhanga, Second Edition, pg 510)*

68. *With such an intense interest in metaphysical problems and a tradition of lively debate and discussion it is not surprising that India developed her own distinctive system of logic. The basic logical text is the Nyaya Sutras of Gautama. .... Logic was not, however, confined to this one school, but was utilized and adopted by Hindu, Buddhist and Jaina alike. (The Wonder That Was India, A L Basham, Picador, pg 503)*

69. *Nyaya (Analysis) was rather a school of logic and epistemology than a theology........Logic was forced into the scheme as a means of salvation by the contention that that clear thinking and logical argument were essential means to the highest bliss, and thus a religious basis was given to what was essentially a system of reasoning. (The Wonder That Was India, A L Basham, Third Edition, Picador, pg 325)*

70. *A History of Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprint Motilal Banarsidass, pg 155-6*

71. *I shall not now speak of the knowledge of the Hindus,...of their subtle discoveries in the science of astronomy - discoveries even more ingenious than those of the Greeks and Babylonians - of their rational system of mathematics, or of their method of calculation which no words can praise strongly enough - I mean the system of nine symbols. If these*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

things were known by the people who think that they alone have mastered the sciences because they speak Greek they would perhaps be convinced, though a little late in the day, that other folk, not only Greeks but also men of a different tongue, know something as well as they. (A L Basham, The Wonder That Was India, Third Edition, pg I, Picador)

72. *Of all the nations of the world the Hindus and the Greeks appear to have developed systems of logic to a large extent independently of each other. Hindu Logic in its redumentary stage can be traced as early as the 6th century before Christ. Greek Logic assumed a definite form in the fourth century B. C. though its gserms can be traced a little earlier in the controversies of the Sophists and Socrates. (A History of Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprint Motilal Banarsidass, Introduction pg XV)*

73. *According to the Puranic tradition, Nimi employed Gautam instead of Vasistha to act as his priest in the great sacrifice. Gautam married Ahalya (sister of Divodasa of north Panchala) (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary. Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Foundation, Darbhanga, Pg 10)*

74. *The Nyaya system of philosophy, like every other Indian system, is based upon a body of aphoristic sayings, called 'Sutras', which are ascribed by tradition to one Aksapada, more popularly known as Gotama or Gautama. (Introduction to The Nyaya-sutras of Goutama by Mahamahopadhyaya Dr Sir Ganganatha Jha, Vol 1 , Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj, Reprint Motilal Banarasidass pg xii)*

75. *Mahamahopadhyaya Dr Satish Chandra Vidyabhusana believes that the author of the Nyaya-Sutras, who was identical with the author of Gautama Dharma Sutras and of the Pitrimedha Sutra and was an inhabitant of Mithila, lived in the 6th Century B C and was a contemporary of Buddha. He was the author of the first chapter of the work, the later chapters being subsequent additions. (Introduction to The Nyaya-sutras of Goutama by Mahamahopadhyaya Dr Sir Ganganatha Jha, Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj, Vol 1 , Reprint Motilal Banarasidass, pg xiii)*

76. *All this shows that though it is not certain when Gautama, the author of Nyaya-sutra lived . . . it is most probable that he*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

existed about 500 B C and that he worked for a major portion of his life in Mithila which has always been the home of Nyaya philosophy. (History of Tirhut, Shyam Narayan Singh, The Baptist Mission Press, Calcutta, pp 191, 1922)

77. *There is nothing to contradict Dr Vidyabhusana's view that the Sutras belong to 600 B.C. (The Nyaya-sutras of Goutama , Mahamahopadhyaya Dr Sir Ganganatha Jha, Vol 1 , Reprint Motilal Banarasidass pg xiii)*

78. *The people of Mithila , too, ascribe the foundation of the science of Anviksiki or Logic to Gotama or Goutama and point out, as the place of his birth, a village named Goutama-sthana where a fair is held every year on the 9th day of the lunar month of Caitra (March-April). It is situated on the outskirts of Mithila at a distance of 28 miles north-east of modern Darbhanga. There is a mud hill of considerable height (supposed to be the hermitage of Goutama) at the base of which lies the celeberated Goutama-kunda, the water whereof is like milk to the taste and is called on this account 'Ksirodadhi' or 'Khiroi' signifying literally the sea of milk." (A History of Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprinted by Motilal Banarsidass, pg 11)*

79. योऽक्षपादमृशिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्। तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्।। (न्यायसूत्रभाश्यम् , वात्स्यायन, संपा अनन्त लाल ठाकुर, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् , नई दिल्ली)

80. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतः करिश्यते तस्य मया निबन्धनः।। (न्यायभाष्यवार्त्तिकम् , भारद्वाज उद्योतकर, संपा अनन्त लाल ठाकुर, भारतीय दार्शनिक अनु परि , नई दिल्ली)

81. *The foregoing account of kingdom and republics shows how much the politics of the period was influenced by religious leaders of the eminence of Vardhamana Mahavira and Gautama Buddha, the founders respectively, of the important religions known as Jainism and Buddhis. (Hindu Civilization, Radha Kumud Mookerji, Longmans, Green and Co., 1936, pg 216)*

82. *Both Jains and Buddhists vie with one another in claiming him as the follower of their respective faiths. (Hindu civilization , Radha Kumud Mookerji pg 187)*

83. *There is first a reference to the meeting of Bimbasara and Gotama. The title Gotama shows that he was not then the Buddha. It was seven years earliers, just after his*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

renunciation Bimbisara was then at Girivraja. Their next meeting took place later when Bimbisara had moved to his new palace or city, Rajagriha. Even at the first meeting, before Gotama was a Buddha, the king was so much impressed by him that he offered to settle him as a chief with necessary gifts of wealth. (Hindu civilization , Radha Kumud Mookerji pg 187- 8)

84. *Among other proofs given of Bimbasara's devotion to Buddhism may be mentioned his appointment of his personal physician, Jivaka, as the physician in attendance on the Buddha and his Order, or his remission of ferry charges for ascetics out of regard for the Buddha who once had with him no money to pay to the ferryman for crossing the Ganges. (Hindu civilization , Radha Kumud Mookerji pg 188)*

85. *Coming to more historical times when Buddha was preaching his law, we find a dynasty with Bimbasara as king (circa 543 - 491 B C) ruling over Magadha" (Rajagir, Mohammad Hamid Kuraishi, Revised by A Ghosh, Fourth Edition, Department of Archeology, Govt of India, pg 4, 1956)*

86. *It was an important centre of Buddhist, Jaina and Ajivaka activities, Jainism and Buddhism secured royal patronage at Magadha. (History of Bihar, Radhakrishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India,New Delhi, Acc No 75557, pg 23)*

87. *Bimbisara was a great admirer of Buddha and his creed. (Rajagir, Mohammad Hamid Kuraishi, Revised by A Ghosh, Fourth Edition, Departmentof Archeology, Govt of India, pg 4, 1956)*

88. *Rajagriha was an important centre of Buddhism and Buddha himself passed many years of his ministration at this place. It was the scene of many sermons and important events of his life. He lived in different localities of the city,but his fovourite resort was the Gridhrakuta or the vulture's peak. (Rajagir, Mohammad Hamid Kuraishi, Revised by A Ghosh, Fourth Edition, DepartmentofArcheology, Govt of India, pg 5, 1956)*

89. *The foundation of the Magadhan Empire by Bimbasara in the sixth century BC marks the beginning of new era in the history of Indian imperialism.......It is an irony of history that both the systems, imperialism of Magadha and republicanism of Vaisali, grew side by side in Bihar and both had the blessings*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

of Buddha. (The Political and Cultural heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Foundation, Darbhanga, pg 18)

90. *But, barring western Mithila, Buddhism in its later phase does not seem to have strong foothold in Mithila proper. It is no doubt true that the first popular wave of Buddhism shook the entire country out of its bottom, and that the spread of new Order passed more or less unchallenged as an accomplished fact. But, when the followers of Buddhism began to attack the anscient Vedic traditions right and left with their arguments borne out of jealousy and hatred, the Maithila scholars shook of their complacency, essayed and reinforced the tottering edifices by taking up the new challenge in its letter and spirit. They bade good-bue to their spiritual persuits for the time being and concentrated their entire energy on the preservation of their anscient culture and tradition. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 110)*

91. *Coming to the scholarly and logical disputations between the followers of Brahmanism and Buddhism, we find that the exponents of these systems wrote numerous books refuting the views of their opponents.The thinkers of these schools were accustomed often to meet together and defeat their rivals in actual debates. The result of these wordy wranglings frequently proved very important in determining the prestige of a school of thought. For example, if a Buddhist logician defeated greater Nyaya or Mimamsa thinker in a great public debate, attended by learned scholars from every part of the country, his fame at once spread all over the country and he could also secure a large number of followers on the spot. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 117)*

92. *Thus, it was in the wake of this new trend of debating and speculative currents and cross-currents in the world of intellect that the systematization of Nyaya in the Sutra form was completed by Gautama or Aksapada during this period of intellectual turmoil and unrest. (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 117)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

93. *This ushered in a new era of logical disputations and it may rightly be said that the bitter clash between these two conflicting for ages was ultimately responsible for the tremendous growth of unprecedented advance in Indian logical system. If Magadha was the birth-place of Buddhist logic, Mithila was similarly the citadel of Brahmanic philosophy. . (Studies in Jainism and Buddhism in Mithila, Upendra Thakur, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1964, pg 110)*
94. *After the death of Buddha, Ajatasutra brought his share of corporeal relics of the master to Rajagriha and enshrined them inside a stupa. A few few months later, when the leading Buddhist monks decided to hold a council to form a corpus of the teaching of Buddha, Ajatasatru accommodated them in a large hall in front of the Saptaparni cave specially built for the purpose. (Rajagir, Mohammad Hamid Kuraishi, Revised by A Ghosh, Fourth Edition, Departmentof Archeology, Govt of India, pg 6, 1956)*
95. *History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 94, 1988*
96. *The Maithilas, it seems, by this time accupied a small district(i.e. themodern DarbhangaDistrict) to the north of Vajjian dominion which had already been annexed to the Magadhana empire by Ajatasatru." (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 96, 1988)*
97. *History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 94, 1988*
98. *Mahavira, the last of the Jaina Tirthankaras, passed fourteen rainy seasons at Rajagriha and its suburb of Nalanda. He had many rich supporters at Rajagriha; and it is interesting to note that the Jainas too claim Bimbasara and Ajatasatru (known in their texts respectively as Srenika (Jsf.kd½ and Kunika ((dqf.kd½ as votaries of their faith. (Rajagir, Mohammad Hamid Kuraishi, Revised by A Ghosh, Fourth Edition, Departmentof Archeology, Govt of India, pg 6, 1956)*
99. *He was succeeded by Raja Nandivardhan, who was a Jain. (History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 30)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

100. *In his reign the second Buddhist council was held at Vaishali." (History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India,New Delhi, Acc No 75557, pg 30)*
101. *History of Mithila, Upendra Thakur; Mithila Institute, Second Edition, pg 94-5, 1988*
102. *They describe the Nandaking as an illegitimate son of a barber, while the Puranas describe the Nandas as Sudras. The Greek accounts further trace their low origin to their Sudra father described as a handsome barber with whom the queen of Nanda fell in love, carried on illicit intercourse, and then contrived to get her royal husband out of her way by murder. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 15)*
103. *For instance, in the case of the Saisunaga dynasty which was succeeded by that of the Nandas, it has been clearly stated that of the ten Saisunaga kings, the ninth was Nandivardhana, and the tenth was his son named Mahanandiṇ, and that, as son of Mahanandin by a Sudra woman will be born a king, Mahapadma (Nanda), who will exterminate all ksatriyas. There after kings will be of Sudra origin" (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 10)*
104. *The Maithilas, it seems, by this time occupied a small district (i.e.the modern Darbhanga District) to the north of the Vajjian dominion which had already been annexed to the Magadhan empire by Ajatasatru. Thus a considerable portion of India was unified under Nanda's scepter with Palibothra (according to classical writers) or Pataliputra as its capital. (History of Mithila, Upendra Thakur; Mithila Institute, Second Edition, pg 96, 1988)*
105. *The atmosphere of Jainism had already penetrated into Pataliputra, as we have already seen, in the time of the Nandas who had Jain leanings and Jain ministers. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 39)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

106. *The then ruler of Magadha, known as merely Nanda in Sanskrit tradition, is named Dhana-Nanda in the Pali texts which further acquaint us with the names and some particulars of all the nine Nandas. We are told that all the nine Nandas, who were brothers, ruled one after another in accordance with seniority. Dhana-Nanda was the youngest of them. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 19)*

107. *When Chanakya came to Pataliputra, he saw Dhana-Nanda as the reigning king. He was notorious for his avarice, the possessor of 'riches to to the amount of 80 kotis' and given to 'levying taxes even on skins, gems, trees and stones'. He was called Dhana-Nanda by way of contempt, because he was 'addicted to hoarding treasure' (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 20)*

108. *The Nandas were extremely unpopular owing to their base origin and wickedness. They were haters of the Brahmanas. They were heretics in the Hindu eyes. Arthasastra states, 'This Sastra has been made byhim (Kautilya) who from intolerance (of misrule) quickly rescued the scriptures and the science of weapons and the earth which had passed to the Nanda king.' (History of Bihar, Radha Krishna Choudhary, Published by Shanti Devi, 1958, Archeological Survey of India, New Delhi, Acc No 75557, pg 31 - 2)*

109. *Chandragupta Maurya (c. 321 B C) belonged to Ksatriya clan. (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 97, 1988))*

110. *The little known Mauryan pillar at Sikligarh (Dharahara near Banamankhi railway station, in the district of Purnea) is indicative of the fact that that the Mauryas controlled the whole of north Bihar from Champaran to Purnea. The discovery of a chain of wooden pillars at Jaimangalagarh in 1955 further lends support to our contention." (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 99, 1988)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

111. *It is to be recalled that 'Mauryan Empire', as F. W. Thomas [Cambridge History, Vol I, pg 484] puts it began with a Brahman, as well as a national reaction, and, under Kautilya's leadership. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619 Motilal Banarsidass, 1943, pg 183)*
112. *Society was based on the orthodox Brahmanical system. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619 Motilal Banarsidass, 1943, pg 183)*
113. *The apex of the society was the Brahman who, as Purohita, and the king's preceptor, influenced politics and administration to a very large extent, and also legislation as a member of the Parishad." (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619 Motilal Banarsidass, 1943, pg 183)*
114. *But all this social honour was due to the fact that he hardly belonged to the society as such: he was in the world but not of it. His true office was study and teaching, and his proper abode was the forest hermitage where he maintained the sacred fires and lived for another world. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619 Motilal Banarsidass, 1943, pg 184)*
115. *There were annual Philosophical congresses assembled by the kings. At these they announced their own discoveries as to religion and philosophy. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619 Motilal Banarsidass, 1943, pg 190)*
116. *These philosophers (pramanikas) are, as a rule, orthodox Brahmans, but they view with contempt these Brahmans who*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

put their trust in Vedic ceremonies.(Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619, Motilal Banarsidass, 1943, pg 189)

117. *Bevan rightly points out that people intended are undoubtedly the Pramanikas, the folloowers of the various philosophical systems , each of which has its own view as to what constitutes Pramana, a 'means of right knowledge'. These philosophers are, as a rule, orthodox Brahmans, but they view with contempt these Brahmans who put their trust in Vedic ceremonies." (Chandragupta Maurya And His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 189)*
118. *The Anguttara (1V, 35) mentions two classes of ascetics whom it calls Parivrajakas : (1) The Brahmana and (2) Annatitthiya i. e. other non-Buddhists ascetics. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619, Motilal Banarsidass, 1943, pg 189)*
119. *The Brahmana Parivrajaka are characterized as Vadasila, disputations (Sutta Nipata,382), Vitandas. (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Motilal Banarsidass, 1943, pg 189)*
120. *But such a social oder was now threatened by the growth of heterodox and proselytizing sects llike Jainism, Buddhism, and many others mentioned in the literature of the times, which were threatening its foundations by organizing brotherhoods of ascetics (paravrajia) (Chandragupta Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619, Motilal Banarsidass, 1943, pg 183)*
121. *We may also consider implications of the unanimous Jain tradition that Chandragupta in his old age abdicted and followed the Jain saint Bhadrabahu as his teacher. Both teacher and pupil travelled towards the south and settled down at a place known as Sravana Belgola. (Chandragupta*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

Maurya and His Times, Radha Kumud Mookerji, Sir William Meyer Lectures, 1940 - 41, Madras University, Archaeological Survey of India, New Delhi, Acc No 74619, Motilal Banarsidass, 1943, pg 39)

122. *History of Tirhut, Upendra Thakur, Second Edition, 1988, Mithila Institute, Darbhanga, pg 99*
123. *Buddhist priests from Magadha and Tirhut went in large numbers to preach their religion to Tibet during Asoka's time.(History of Tirhut, Upendra Thakur, Second Edition, 1988, Mithila Institute, Darbhanga, pg 101)*
124. *It is evident that, after his change of heart if not before, Aoska's personal religion was Buddhism, and some authorities believe that he actually entered the Buddhist Order. (The Wonder That Was India, A L Bhasam, Third Revised Edition, Picador, pg 56)*
125. *In fact the Dharma officially propogated by Asoka was not Buddhism at all, but a system of morals consistent with the tenets of most of the sects of the Empire calculated to lead to peace and fellowship in the world and heaven in the next. (The Wonder That Was India, A L Bhasam, Third Edition, Picador, pg 56)*
126. *Asoka classified all the religions of his empire under five heads; the (Buddhist) Sangha, the Brahmanas, the Ajivakas, the Nirgranthas (or Jainas), and 'other sects'. He further declared that, while he gave his chief patronage to the Buddhists, he honoured and respected them all, and called on his subjects to do likewise. (The Wonder That Was India, A L Bhasam, Third Edition, Picador, Picador, pg 264)*
127. *Nonetheless, Maithilas seem to have been adment in their anti-Buddhistic attitude, for we know that one of the causes leading to the downfall and break-up of the Mauryan empire was the violent Brahmanic reaction.. (History of Tirhut, Upendra Thakur, Second Edition, 1988, Mithila Institute, Darbhanga, pg 101)*
128. *The following period, however, saw the recrudescence of Brahmanic learning and culture. It is, therefore, probable that this must have partly, if not solely, contributed to the disintegration of the Mauryan empire. (History of Tirhut, Upendra Thakur, Second Edition, 1988, Mithila Institute, Darbhanga, pg 101)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

129. *Brahmanism replaced Buddhism and the Brahmanas exchanged the ferule for the sword. The finale came when Brhadratha, the last Mauryan king, was assassinated by his general Pusyamitra, and the vigorous Bimbikas or the Sungas entered the stage (c 184 B. c.). This Pusyamitra Sunga belonged to the well-known family of Bharadvajas. (History of Mithila, Upendra Thakur, Second Edition, 1988, Mithila Institute, , pg 102)*
130. *For some fifty years Mauryan kings continued to rule in Magadha until, about 183 B C, Pusyamitra Sunga, a brahman general of Brhadratha, the last Mauryan king, succeeded in gaining power by a palace revolution. Pusyamitra was a supporter of the orthodox faith.....(The Wonder That Was India, A L Basham, Third Revised Edition, Picador, pg 58)*
131. *Pusyamitra was a leader of the Brahminical revival and it was during his reign that Brahminism replaced Buddhism. The Ajivakaism had become insignificant as early as the Sunga period. The sungas were the followers of the Krsna-yajurveda and as such they were bound to be popular in Mithila which was then a centre of the Yajurveda. Pusyamitra belonged to the well-known family of Bharadwaja. Since Mithila was the centre of Yajurveda, a fact still maintained by the traditional Yajurvedi village, Yajuar, it is only natural that the people of North Bihar acclaimed the advent of a Brahmin power, heralded by the victory of Pusyamitra Sunga. (The Political and Cultural Heritage of Mithila, Radhakrishna Choudhary, Maharajadhiraja Kameshwar Singh Kalyani Foundation, Darbhanga, pg 25-6)*
132. *The earliest extant on Nyaya-sutra is the Nyaya-bhasya of Vatsyayana or Paksilswami. In it there are references to previous logicians designated as eke (some), kecit (certain), anye (others), who were perhaps authors of commentaries which have not come down to us. (A History of Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprint Motilal Banarsidass, pg 115*
133. *The decline and fall of the Vajjian Confederacy constitutes a land-mark in the history of anscient India. The political exit of the Lichchavi from the north Indian stage ushered in a new era - the era of full-fledged imperialism. The republican*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

forces having been subdued one by one, the interest and welfare of the entire clan were now subordinated to the ambition of a single monarch or conqueror. It was in the wake of this new force that the foundations of big empires began to be laid.Magadha, with Bimbisara, and later on his son Ajatasatru, was the first power to mobilise its forces in this direction. This unprecedented change in the political set-up was a signal to the shape of things to come. The centre of political gravity, which had already shifted from Mithila to Vaisali in the preceding age, shifted now to Pataliputra, the citedal of the Magadhan empire. (History of Mithila, Upendra Thakur, Second Edition, Mithila Institute, Darbhanga, pg 93, 1988)

134. *Of all, the Brahmanas of Mithila must have welcomed the advent of a Brahmanic power, as Pusyamitra Sunga ardently championed their cause. (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 103, 1988)*

135. *The emperor (Pusyamitra Sunga) continued to reside in Pataliputra. The Himalayan regions including Mithila and Vaisali besides the whole of North-Eastern India, remained under the aegis of Pataliputra under the direct supervision of the king himself. (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 103, 1988)*

136. *Pusyamitra ruled from c 187 to 151 B C. His successors Agnimitra and Vasumitra successfully maintained their control over the territories . . .The last king Devabhuti was tragically killed by his amatyaVasudeva, who brought about the fall of this dynasty(75 B C). (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 104, 1988)*

137. *In other words Vatsyayana may be assigned to the 2nd or 3rd century B. C. This date would not be compatible with the general style and structure of his language. (Introduction of The Nyaya-sutras of Goutama by Mahamahopadhyaya Ganganatha Jha, Vol 1, pg xxiii, Reprint Motilal Banarasidass)*

138. *Nyayabhasya must be ascribed to the same period in which Mahabhasya was written i.e. about 200 B. C. (Introduction of The Nyaya-sutras of Goutama by Mahamahopadhyaya*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

Ganganatha Jha, Vol 1, Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj, pg xiv, Reprint Motilal Banarasidass)

139. *By the time of Vatsyayana it assumed the form of a full-fledged philosophical system without hampering its original nature of a vada-handbook. It came in close contact with other systems of thought and was influenced by some of them and influenced others in its turn as well.(Gotamiya Nyaya Darshanam, Anantalal Thakur, pg IX, I C P R)*

140. *Vatsyayana must have flourished before Dignaga, as the latter criticizes him in connection with his explanation of the mind (manas) as a sense-organ. (A History of Indian Logic, Satis Chandra Vidyabhusana, Reprin Motilal Banarsidass, pg 116)*

141. *The rivalry (between Nyaya and Bouddha) was systematic. It helped both the systems flourish through constant scholarly debates for generations. The Nyayabhasya was criticized by Vasubandhu and Dinnaga. Uddyotakara demolished their position. He was criticized by Dharmakirti who in his own turn was refuted by Vachaspati Mishra. Jnanashrimitra criticized Vachaspati. Udayanacharya refuted the views of Jnanashrimitra. After Udayanacharya , the Buddhist side was routed through foreign invasion. And classical Nyaya ceased to maintain its usual rate of growth for want of equal rivals. (Gotamiya Nyaya Darshanam, Anantalal Thakur, pg X, I C PR)*

142. *After Aksapada the Buddhists gradually became the formidable opponents of the Naiyayikas. But in their initial speculations, the Buddhist logicians followed the logical structure as propounded by Aksapada himself. The pre-Dinnaga Buddhist logic used the same Nyaya categories and the same subdivisions thereof...The four means of knowledge, the five-membered syllogism, the five charecteristics of the probans, the five defects thereof and the subdivisions of the futile rejoinders and the points of defeat were generally held in common by the logicians of both these schools during the pre-Dinnaga period. (Gotamiya Nyaya Darshanam, Anantalal Thakur, pg X, I C P R)*

143. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की विलासिनी टीका की भूमिका, पृ 5, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

144. *As to the further question of his identity with Kautilya and with the author of Kamasutra a negative answer has to be given. There does not seem to be any historical evidence in support of this identity. Kautilya's attitude towards* आन्वीक्षिकी *and his style of composition are in different antithesis to the Nyaya Bhasya; and as for the Kamasutra it is decidedly a later composition." (Introduction of The Nyaya-Sutras of Gautama, Mahamahopadhyaya Dr Sir Ganganatha Jha, Vol I, pg XIII-XXIV)*
145. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिष्चेति विद्याः। (कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 1, पृ 4, आर पी कांगले, मोतीलाल बनारसीदास)
146. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता।। (कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 1, पृ 4, आर पी कांगले, मोतीलाल बनारसीदास)
147. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।। सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयन्यायदर्शनम्, वात्स्यायन, संपा अनन्तलाल ठाकुर, भारतीय दार्शनिक अनुसंधन परिषद्, पृ 5, 1997
148. *Udyotakara, the great Maithila logician, wrote a Varttika on Vatsyayana's bhasya, about 635 A.D. with a view to establishing the Nyaya view and refuting the criticisms of the great Buddhist logician, Dinnaga (c. 500 A. D.) in his Pramana-samuccaya. (History of Mithila, Upendra Thakur, Mithila Institute, Second Edition, pg 511, 1988)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कुमारप्पा का अर्थायन

मिथिलेश कुमार तिवारी

आधुनिक अर्थशास्त्र की रचना पूरी तरह से पश्चिमी आदर्शों पर हुई है। यह मनुष्य की संकल्पना आर्थिक प्राणी के रूप में करते हुए मानता है कि आर्थिक जीवन अपने ही स्वायत्त नियमों द्वारा संचालित होता है। इसके अनुसार किसी प्रकार का मूल्यबोध इससे संबंधित नहीं है। कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक मानते हैं कि आर्थिक जीवन और नैतिकता या मूल्यबोध अनिवार्यतः एक–दूसरे के विरोधी हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ अपनी पुस्तक'वेल्थ ऑफ नेशन' में कहते हैं कि "मुनष्य का आर्थिक जीवन और विकास उसकी बुनियादी स्वार्थवृत्ति से प्रेरित और नियंत्रित तथा निर्देशित है। इसलिए नैतिकता से उसका अनिवार्यतः विरोध का ही संबंध हो सकता है।"[1] इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र उपभोग में वृद्धि को एक जीवन मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। वह केवल मांग की पूर्ति ही नहीं करता है, बल्कि नये और कृत्रिम मांगों की सृष्टि भी करता है, क्योंकि उसके बिना आर्थिक प्रक्रिया का विकास रूकने लगता है। अल्फ्रेड मार्शल जैसे अर्थशास्त्री कहते हैं कि आर्थिक संगठन का उद्देश्य जरूरतों की पूर्ति करना ही नहीं, नयी जरूरतों की सृष्टि करना भी है।

मनुष्य को उपभोक्ता मान लेने और उसके उपभोग की लालसा बढ़ाते रहने में अपना विकास मानने वाली अर्थव्यवस्था ने बहुत सी समस्याएँ पैदा की हैं। इसमें सामाजिक, राजनीतिक हिंसा तो शामिल है ही, साथ ही पर्यावरण जैसे गंभीर संकट भी शामिल हैं। इस सबके अतिरिक्त आधुनिक अर्थशास्त्र बुनियादी आर्थिक सवालों का समाधान करने में भी असफल रहा है। जैसे कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुमाकर (अंग्रेजी में शुमाखेर) जब यह पूछते हैं कि अपनी पूँजी को ही मुनाफा मानकर खाते रहना क्या किसी अर्थव्यवस्था की सफलता मानी जाएगी? तब आधुनिक अर्थशास्त्र इसका कोई जबाव नहीं दे पाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र के लिए उपभोक्ता एक मनुष्य नहीं बल्कि वस्तु है। उसकी महत्ता तभी तक होती है जब तक वह उपभोग करता रहता है।

उन्मीलन – वर्ष 37, अंक 1, जनवरी–जून 2023
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थव्यवस्था का मकसद यह जानना कभी नहीं होता कि उस उपभोग का उस उपभोक्ता, समाज और प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ेगा? आधुनिक अर्थव्यवस्था का विकास आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ कृत्रिम जरूरतों व आवश्यकताओं को पैदा करना भी है। अतः इस अर्थव्यवस्था में नये कृत्रिम मांगों को भी पैदा किया जाता है और उपभोक्ता को उपभोग हेतु मनोवैज्ञानिक रूप से मजबूर किया जाता है। हरबर्ट मारक्यूज जैसे चिंतकों ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है।[2] उनके अनुसार यह अर्थव्यवस्था मनुष्य को मात्र उपभोक्ता मानने और लगातार उपभोग को बढ़ाते जाने के कारण न केवल सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में हिंसा को तो जन्म दे ही रही है बल्कि लगातार उपभोग बढ़ने के कारण प्राकृतिक संसाधनों और समस्त पारिस्थितिकी के प्रति भी हिंसक है। अतएव इस अर्थव्यभवस्था में उपभोग भी हिंसक हो जाता है और उपभोक्ता इस हिंसक प्रक्रिया को समर्थन देने लगता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र आर्थिक विकास के एकायामी स्वरूप को अपने आप में सम्पूर्ण मानकर भारी और जटिल प्रौद्योगिकी के जरिए प्राकृतिक संसाधनों का अनवरत दोहन कर वृहद् उत्पापदन करता है और इसे ही आर्थिक विकास मानता है। इस प्रक्रिया में यह बात शामिल नहीं है कि इसका प्रभाव किन पर और किस स्वरूप में पड़ रहा है? इस अर्थव्यवस्था में लगातार उत्पादन और अनवरत उपभोग को बनाए रखने के लिए नवीनतम और लगातार कुशल व शक्तिशाली प्रौद्योगिकी की जरूरत होती है। मगर प्रौद्योगिकी का यह अनियंत्रित प्रयोग उन्हें प्रौद्योगिकीय नियतिवाद (टेक्नोकलॉजिकल डिटरमिनिज्म) की ओर ले जाता है। इसका अर्थ है कि एक बार अपनी आवश्यकता के अनुसार वृहद् एवं शक्तिशाली तकनीक चुनने के बाद वह तकनीक स्वयं अपने नियमानुसार अन्य चीजों को निर्धारित करने लगती है। वह व्यवस्था में अपने अनुकूल परिवर्तन लाती है। वृहद् एवं शक्तिशाली तकनीक अपनी प्रकृति में हिंसक होती है तथा इसमें एक हायरारकी, अलगाव, शोषण और नौकरशाही, केंद्रीकरण की अवधारणा अनिवार्य रूप से बद्धमूल होती है। यह न केवल मनुष्य–मनुष्य के बीच अपितु मनुष्य एवं प्रकृति के बीच भी शोषण को जन्म देती है। आधुनिक अस्तित्ववादी विचारक कार्ल यास्पयर्स ने अपनी पुस्ततक 'मैन इन द मॉडर्न एज' में आधुनिक तकनीकी सभ्यता की कड़ी आलोचना करते हुए इस सभ्यता को 'सामाजिक बुराई' कहा है।[3]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शक्ति के नियम से संचालित होने के कारण गाँधी भी आधुनिक सभ्यता की कड़ी आलोचना करते हैं। उनकी आधुनिक सभ्यता की आलोचना में अर्थव्यवस्था की आलोचना भी शामिल है। गाँधीजी ने आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था में लालच, शोषण, सत्ता और हिंसा में सीधा संबंध देखा जो मानवीय समाज में अलगाव को बढ़ावा दे रहे थे। उन्होंने पाश्चात्य औद्योगिक, भौतिकवादी सभ्यता की कटु आलोचना की है। वह मशीनीकरण (Mechanization), व्यक्तित्वलोप (Depersonalization) तथा नौकरशाही (Bureaucracy) के विरोध में थे जो कि आधुनिक वृहद् आर्थिक एवं सामाजिक संरचना के आवश्यक आयाम थे।[4] गाँधीजी के अनुसार समस्त शोषण, दमन और वर्ग–विभाजन की जड़ में शरीर–श्रम की अनुपस्थिति निहित है। शरीर–श्रम मानवीय व गैर–मानवीय श्रम के बीच की खाई को पाटकर सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में अलगाव और अकेलेपन की समस्याओं से निजात दिलाता है।[5]

गाँधीवादी संयोजन के सिद्धांत पुस्तक में श्रीमन्नारायण लिखते हैं कि पूँजीवादी समाज में धनवानों और निराधारों के बीच सदा एक बहुत बड़ी खाई होती है। इसलिए एक अच्छे राष्ट्र को चाहिए कि वह अपने नागरिकों की आमदनी में कभी भारी विषमता न पैदा होने दे, नहीं तो वहाँ शासन–सत्ता आगे–पीछे अवश्य ही धनवानों के हाथ चली जायेगी। संभव है, एक आदमी ही राजा बन बैठे।[6] इसी तरह जॉन काइनेथ गालब्रेथ अपनी पुस्तक में अमरीकी अर्थव्यवस्था पर अति कठोर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि अर्थव्यवस्था में अपने को पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति होती है, अब इसपर विश्वास नहीं किया जाएगा। असमान विकास, असमानता, अगंभीर तथा अनियमित नव्य प्रयोग द्वारा पर्यावरण पर आक्रमण, व्यक्तित्व की उपेक्षा, राज्य पर नियंत्रण, मुद्रास्फीति, अंतर औद्योगिक सहयोग में असफलता व्यवस्था के अंग बन गए हैं जैसे कि वे वास्तविकता के ही अंग हों। ये साधारण खामियाँ नहीं हैं, जैसे कि मशीन पर विकृत आकृति का छल्ला हो जिसे कोई एकदम पहचान सकता है और हटा सकता है और इस प्रकार वह ठीक कर दी जाती है। वे गहराई में व्यवस्था से जुड़ी हैं।[7]

विकास का अहिंसक गांधीवादी मॉडल दो बुनियादी सिद्धांतों पर आधारित है– 1. हर किसी के पास समान अवसर होना चाहिए और 2. समाज में किसी को भी अपनी आवश्यकता से अधिक का आनंद नहीं लेना चाहिए। विकास का यह सिद्धांत मूल रूप से विकास का एक नैतिक–आर्थिक सिद्धांत है। गाँधी का आर्थिक विचार एक विकेंद्रीकृत,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्थानीय मॉडल प्रस्तुत करता है जिसमें उत्पादन, वितरण और स्वामित्व के विकेंद्रीकरण पर जोर है। साथ ही, इस तरह के आर्थिक सशक्तीकरण और गाँवों (राष्ट्र–राज्य) के विकेंद्रीकरण से राजनीतिक विकेंद्रीकरण का मार्ग भी प्रशस्त होने की उम्मीद है। गाँधी अपने समय के समाज के साथ एक व्यापक सत्याग्रह करते हैं। उन्होंने आत्मनिर्भर मनुष्य के निर्माण के लिए शोषण के विभिन्न रूपों की आलोचना की। उन्होंने श्रम के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था बनाने की कोशिश की।

गाँधीजी के अनुसार किसी भी प्रकार की अहिंसक अर्थव्यवस्था अथवा विकास को रस्किन की पुस्तक 'अन टू दि लास्ट' में सुझाई गई तीन बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर समझने की जरूरत है–

1. सभी में अच्छाई निहित है।
2. वकील के काम का उतना ही मूल्य है जितना नाई का है, क्योंकि सभी को अपने काम से आजीविका कमाने का समान अधिकार है।
3. श्रम का जीवन यानि कि किसानों और हस्तशिल्पियों का जीवन जीने लायक जीवन है।

महात्मा गाँधी का संपूर्ण आर्थिक दर्शन–एक ऐसा दर्शन है जो पूरी तरह से मनुष्यों के संपूर्ण विकास और उनकी वास्तविक संरचना के लिए चिंतन का एक नया पैटर्न निर्धारित करता है।

गाँधी की स्पष्ट मान्यता थी कि अपने आर्थिक जीवन के मानवीय पहलुओं की उपेक्षा करके हम कभी अपना भला नहीं कर सकते। यंत्रों और भौतिक संपत्ति की अपेक्षा मनुष्य का मूल्य कहीं अधिक है। अधिक उत्पादन करके राष्ट्र की संपत्ति आखिर मनुष्यों को दुःख नहीं, सुख पहुँचाने के लिए ही तो हम बढ़ाना चाहते हैं।[8] इसलिए गाँधी ने पूँजीवादी केंद्रीकृत अर्थशास्त्र के स्थान पर विकेन्द्रीकरण आधारित अहिंसक अर्थशास्त्र की बात की है जिसके केंद्र में मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का भाव निहित है। यही कारण है कि उन्होंने आर्थिक सिद्धांतों के लिए नैतिकता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसमें शरीर श्रम, सादगी आदि पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। गाँधीवादी आर्थिक दर्शन की इस आधारशिला के प्रमुख शिल्पकार जे. सी. कुमारप्पा माने जाते हैं। वे एक ऐसे गाँधीवादी अर्थशास्त्री हैं जिसे वर्तमान समय ने लगभग विस्मृत कर दिया है। गाँधीवादी आर्थिक दर्शन की आधारशिला प्रस्तुत करने वाले जे.सी. कुमारप्पा के लिए वही विकास सार्थक एवं टिकाऊ माना जाएगा जो प्रकृति एवं मनुष्य को केन्द्र में रखकर अपनाई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गई हो। कुमारप्पा के उस आर्थिक दर्शन की रूपरेखा में विकास का तात्पर्य उस स्थिति से है जो हमें स्थायी समाज निर्माण की ओर ले जाता हो।

जे.सी. कुमारप्पा का आर्थिक दर्शन व्यापक और मौलिक है। वह मानव के आर्थिक प्रश्नों को निर्मित करने वाले घटकों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। उनके आर्थिक चिन्तन में मूलभूत रूप से व्यक्ति के स्वभाव, मूल्य, कार्य का स्वरूप, श्रम विभाजन, राज्य का कार्य, संपत्ति का अधिकार, व्यापार या लेन–देन में रूपये की अपेक्षा वस्तुविनिमय का स्थान महत्त्वपूर्ण है। एक कुशल अर्थशास्त्री होने के नाते उनका चिन्तन नवीनता लिए हुए है। उन्होंने 1926 में अपने सिद्धान्तों एवं चिन्तन को व्यवस्थित रूप में एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। कुमारप्पा के विचारों को समझने में यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मूलतः अंग्रेजी में लिखी गई इस पुस्तक का नाम है– Why the village movement : A plea for a village central economic order। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद "गाँव आंदोलन क्यों ? भारत में ग्राम–केंद्रीय अर्थ–व्यवस्था के लिये एक दलील" नाम से उपलब्ध है। यह गाँधीजी के आर्थिक सामाजिक विचारों का एक तरह से घोषणा पत्र ही है। कुमारप्पा के विशाल लेखन में एक और पुस्तक जो अपना अनूठा स्थान रखती है, वह है Economy of permanence: A quest for a social order based on non violence- इसका हिंदी अनुवाद "स्थायी समाज व्यवस्था" नाम से उपलब्ध है। 1929 के उत्तरार्ध में गुजरात विद्यापीठ में मतर तालुक के किसानों की दशाओं का आर्थिक सर्वेक्षण करने के लिए एक समिति गठित हुई थी, जिसके अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल थे। इस समिति के निर्देशक एवं मुख्य अनुसंधानकर्ता जे. सी. कुमारप्पा थे। दिसंबर 1929 के आरंभिक दिनों से शुरू हुए क्षेत्र–कार्य में विविध गाँवों का दौरा करने के बाद 11 मार्च 1930 को क्षेत्र–कार्य पूरा हुआ। 12 महीनों से भी अधिक समय तक आँकड़ों की सारणीकरण जैसे नीरस काम के अथक परिश्रम के बाद 1931 में यह रिपोर्ट गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित की गई। औपनिवेशिक भारत में यह एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक सर्वेक्षण था, जिसने तत्कालीन मातर तालुके का सर्वांगीण अध्ययन किया। कुमारप्पा अपनी इस रिपोर्ट की प्रस्तावना में स्पष्ट करते हैं कि इस आर्थिक सर्वेक्षण का लक्ष्य गाँव के हर व्यक्ति से बयान लेना नहीं था बल्कि सही और भरोसे लायक तथ्य संकलन के द्वारा गांव की वास्तविक स्थिति का पता लगाना था। मातर तालुका एक संभ्रांत तालुके के रूप में जाना जाता था। यहाँ की आर्थिक स्थिति पहले बहुत अच्छी थी जो धीरे–धीरे खराब होती गई। यही कारण था

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि इस जिले को आर्थिक सर्वेक्षण के लिए चुना गया। इस तालुके में 82 गाँव थे जिसका क्षेत्रफल 212 वर्ग मील और आबादी उस समय लगभग 56000 थी। कुमारप्पा द्वारा इन 82 गाँव में से 54 गाँव का सर्वेक्षण किया गया।

कुमारप्पा ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की उग्रता और किसानों के शोषण पर ''रोटी के बदले पत्थर'' पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों की मुद्रास्फीति नीति और जनता की लूट का रहस्योदघाटन किया। कुमारप्पा का शोध प्रबंध लोकवित्त और हमारी दरिद्रता ('पब्लिक फिनान्स एण्ड आवर पावर्टी') पहले–पहल यंग इण्डिया में छपी। इसमें अँग्रेज सरकार की आर्थिक नीति तथा भारत के सर्वसाधारण पर उसके प्रभाव पर विचार किया गया है। गाँधीजी ने भारतीयों तथा पाश्चात्य देशों के लोगों से भी इसे पढ़ने का अनुरोध किया। गाँधीजी कुमारप्पा के अर्थशास्त्र के ज्ञान से बहुत प्रभावित थे। वे कहते हैं कि 'उनका अर्थशास्त्र का सजग ज्ञान और शोध कार्य के प्रति उनके लगन' का द्योतक यह रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में किये गये वित्तीय लेन–देन की सूक्ष्म जाँच है। 'लोकवित्त और हमारी दरिद्रता' नामक पुस्तक के सम्बन्ध में गाँधीजी ने लिखा है– इसमें ज्ञानवर्द्धक प्रकरण लिखे हैं। श्री कुमारप्पा के कथनानुसार जहाँ अमेरिका में ऋण सेवा और प्रशासन पर 48.8 प्रतिशत खर्च किया जाता है, वहाँ भारत में 93.7 प्रतिशत खर्च होता है। भारत द्वारा किया गया ज्यादातर खर्च बाहर चला जाता है और अमेरिका द्वारा किया गया खर्च अमेरिका में ही रहता है। इस प्रकार संसार का सबसे गरीब देश भारत प्रशासन पर जितना खर्च करता है, संसार का सबसे धनी देश अमेरिका का खर्च उससे लगभग आधा होता है। जब तक हमें पीस डालने वाला यह बोझ दूर नहीं किया जाता, चाहे वह उसे औपनिवेशिक स्वराज्य कहें या पूर्ण स्वराज्य, स्वराज्य नहीं होगा"।[9]

'लुटेरी सरकार' नामक कुमारप्पा जी के दूसरे लेख के सम्बन्ध में भी गाँधीजी ने कुमारप्पा की तारीफ करते हुए लिखा कि इसमें यह दिखाया गया है कि ब्रिटिश सरकार ने किस प्रकार भारतीयों पर अनुचित रूप से 20 करोड़ पौण्ड का ऋण लाद दिया है।[10]

कुमारप्पा का आर्थिक चिंतन 'सादा जीवन उच्च विचार' पर केंद्रित था। 'द इकॉनमी ऑफ परमानेन्स' (The economy of permanence) के बारे में गाँधीजी ने लिखा है– 'हमारे उद्योग धंधे के इस डॉक्टर ने दिखाया है कि ग्रामोद्योग के बल पर हम आज हमारे चारों ओर दिखाई देने वाली इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्थिर अर्थव्यवस्था के बदले स्थायी अर्थव्यवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है कि क्या शरीर आत्मा को पराभूत कर उसका हनन करेगा या आत्मा शरीर पर विजयी होकर इस नश्वर शरीर के माध्यम से अपने को व्यक्त करेगा। जिसे अपनी चन्द आवश्यकताओं की शून्य सन्तुष्टि के उपरांत अनश्वर आत्मा की पूर्ति में सहायता देने का पूरा अवकाश रहेगा ?' यह है–'सादा जीवन उच्च विचार'।

कुमारप्पा का आर्थिक चिंतन गांधीवादी अहिंसा पद्धति पर आधारित होने के कारण व्यक्ति की स्वतंत्रता, सृजनशीलता तथा दैनिक काम से उसके स्वस्थ संबंध को महत्त्वपूर्ण मानता है। कुमारप्पा के अनुसार किसी के दैनिक कामों में ही उसके सभी आदर्श, सिद्धान्तं और धर्म प्रकट हो जाते हैं। यदि उचित रीति पर काम किया जाय तो वही काम मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का रूप बन जाता है। श्रम–विभाजन के सदंर्भ में वे लिखते हैं– "चीजों के बनाने की पद्धति में केन्द्रीकरण के अंतर्गत जो श्रम–विभाजन होता है, वह स्टैण्डर्ड माल तैयार करने के लिये आवश्यक है, उसमें व्यक्तिगत कारीगरी दिखाने का कोई अवसर नहीं मिलता। केन्द्रित उद्योग में काम करने वाला उस बड़ी मशीन का एक पुर्जा भर बनकर रह जाता है। उसकी स्वतंत्रता और उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है।"

आज इस बात को लेकर कोई दो राय नहीं है कि केन्द्रीय उत्पादन व्यवस्था अपने दुर्गुणों से छुटकारा नहीं पा सकती। वह और भयावह तब बन जाती है जब वह "आवश्यकता के अनुसार उत्पादन" के बरक्स "बाजार के लिये उत्पादन" पर ध्यान केन्द्रित करती है। बेतहाशा उत्पादन बाजार की तलाश करने के लिये विवश होता है तथा उसका अन्त गलाकाटू परस्पर होड़ तथा युद्ध, उपनिवेशवाद इत्यादि में होता है। यदि ये उत्पादन ऐसे कच्चे माल पर आधारित हों जो कि प्रकृति में एक सीमा तक ही उपलब्ध हैं, (जैसे कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ, खनिज पदार्थ) तब तो स्थिति और भी विकट बन जाती है।

जे.सी. कुमारप्पा उपरोक्त तथ्यों को भलीभाँति परख चुके थे तथा स्थायी स्रोतों के दोहन पर ध्यान देने तथा उन्हें विकसित करने पर जोर देते रहे। प्रकृति के संदर्भ में उन्होंने चक्रीय अवधारणा को महत्त्व दिया है।

उनके मौलिक चिन्तन ने प्रकृति में पाँच प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं को माना गया है–

1. परोपजीवी अर्थव्यवस्था (Parasitic Economy)
2. लूट–खसोट वाली अर्थव्यवस्था (Predatory Economy)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. साहस वाली अर्थव्यवस्था (Economy of Enterprise)
4. झुंड वाली अर्थव्यवस्था (Economy of Gradation)
5. सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था (Economy of Service)

प्रथम दो व्यवस्थाओं में अधिकार और कर्त्तव्य का कोई विचार नहीं किया जाता। तीसरी में मनुष्य अपने परिश्रम और सृजनशीलता का फल चखता है। चौथी में सामूहिकता का भान और समूह के कल्याण की भावना होती है। जबकि पाँचवीं व्यवस्था उच्च सांस्कृतिक भावना पर आधारित है तथा इस सिद्धान्त पर चलती है कि समष्टि के विकास में ही व्यष्टि का विकास निहित है। यही स्थायी समाज व्यवस्था है।

कुमारप्पा के अनुसार विकास की आधुनिक पद्धति ने मनुष्य के जीवन को 'अवरूद्ध और पशुकोटि'[11] का बना दिया है। इसलिए उन्होंने आधुनिक विकास के ढाँचे की तुलना 'भेडियों के गुट'[12] से की है, क्योंकि यह व्यवस्था मनुष्य को सिर्फ उपभोक्ता मानकर अधिक से अधिक मुनाफा कमाने पर जोर देती है तथा इस क्रम में अनिवार्यतः हिंसा करती है। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था मानवीय जीवन एवं उसकी रचनात्मक–शक्तियों की निर्मम हत्या भी करती है। इसलिए यह व्यवस्था हमें निश्चित ही विनाश की ओर ले जाती है।

कुमारप्पा इसके बरक्स 'विकास' की जिस अवधारणा की बात करते हैं, उसके केन्द्र में प्रकृति एवं मनुष्य है, क्योंकि कुमारप्पा के लिए मनुष्य की सुप्त शक्तियों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण करना ही सच्चे विकास का उद्देश्य है। वे लिखते हैं कि "यदि विकास को स्थायित्व और अहिंसा प्राप्त करनी हो, तो उपभोक्ता को प्राधान्य देना होगा और हर एक चीज उसकी व्यक्तिगत जरूरत और रूचि के अनुसार पैदा करनी होगी। यह तभी संभव हो सकता है जब उपभोग की वस्तुएँ उसकी आवश्यकतानुसार उपभोक्ता के देख–रेख में अपनी–अपनी जगह पर ही बनें, खास कर घरों में।"[13]

कुमारप्पा के अनुसार विकास की ऐसी संस्कृति का निर्माण तभी हो सकता है जब उसका ढाँचा अहिंसक हो और अहिंसक ढ़ाँचे के निर्माण के लिए प्रेम एक बुनियादी शर्त है। यह प्रेम तभी स्थायी होगा जब हमारी हर–एक आवश्यकता की चीज हमारे आस–पास के कच्चे माल से और आस–पास के ही कारीगरों द्वारा बनायी हुई हो। यदि स्थानिक चीज का उपयोग स्थानिक लोगों द्वारा उत्पादन करने में किया जाएगा और उसका पैसा भी उसी क्षेत्र के कारीगरों के गुजर–बसर के काम में आ जाएगा तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कुमारप्पा के शब्दों में एक 'कुदरती चक्र'[14] पूरा हो जाएगा। चुँकि इस व्यवस्था में किसी से होड़ नहीं है, इसीलिए इस हालत में हिंसा निर्माण का सवाल ही नहीं उठता। यही हमें शाश्वत व्यवस्था की ओर ले जाएगी। इसलिए कुमारप्पा कहते हैं कि यदि हमें स्थायी समाज का निर्माण करना है तो हमें यह भी देखना होगा कि मनुष्य प्रकृति और समाज के साथ कैसा बर्ताव रखे और उसमें कैसे एकात्मभाव प्राप्त करे। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि विकास का प्रारूप अपने उद्देश्य में बिल्कुल स्प्ष्ट हो। कुमारप्पा के अनुसार स्वयं–पूर्ण एवं संगठित–गाँव जिसे गाँधी ग्राम–स्वराज्य का नाम देते हैं, बनाना हमारा ध्येय होना चाहिए। उनके शब्दों में–"अहिंसक विकास के लिए जिस गाँव में जो योजनाएँ बनायी जाएँ वे उस गाँव के फायदे की तो होनी ही चाहिए, पर साथ ही साथ समूचे देश की बड़ी योजना के विरोधी नहीं होनी चाहिए।"[15]

कुमारप्पा इस वैकल्पिक प्रारूप में निम्न कार्यक्रमों पर जोर देने की बात करते हैं–

1. कृषि
2. ग्रामीण–उद्योग
3. सफाई, आरोग्य एवं मकान
4. ग्रामों की शिक्षा
5. ग्रामों का संगठन
6. ग्रामों का सांस्कृतिक विकास।[16]

इसकी बुंनियाद में वस्त्र और खुराक की आत्मनिर्भरता प्रमुख है। इस दृष्टि से ही प्रेरित होकर कुमारप्पा विकास योजनाओं में हमें खेती एवं ग्रामीणी उद्योगों पर सारा ध्यान केन्द्रित करने की बात करते हैं।

जे. सी. कुमारप्पा के अर्थायन में ग्रामवासी वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर संसार का चक्र घुमता है। जिस चीज से उसका हित साधन होता है वही प्रमुख है और शेष सब गौण। कुमारप्पा के अनुसार किसी भी योजना में चाहे कोई भी खुबी क्यों न हो, लेकिन अगर वह लोगों को रोजगार सुलभ कराकर उत्पादित सम्पदा का यथेष्ट भाग ग्रामवासियों को दिलाने में सहायक नहीं होती, तो यह बेकार ही मानी जायेगी। आर्थिक प्रवृति का परिणाम अथवा उद्देश्य उत्पादकों के उपयोग के लिए सम्पदा का उत्पादन है। कुमारप्पा के अनुसार सम्पदा का उत्पादन आमतौर पर उत्पादन के साधनों का बुद्धिपूर्वक उपयोग करके और मानव शक्ति या प्रतिभा के प्रयोग अथवा नियोजन द्वारा किया जाता है। कुमारप्पा ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गणितीय भाषा में नियोजन के तीनों साधनों के बीच बुद्धिपूर्वक तालमेल बैठाने का प्रयास किया। उनके अनुसार– सं.= श्र. सा.

यहाँ सं. का तात्पर्य सम्पदा, श्रं. का तात्पर्य श्रमशक्ति तथा 'सा.' साधन जैसे औजार, उपकरण या पूँजी को निरूपित करता है। इस समीकरण में मान लें कि 'सम्पदा' अपरिवर्तित रहे तो वैसी स्थिति में यदि 'साधन' ज्यादा होगा तो 'श्रमशक्ति' का प्रमाण छोटा होगा। अतएव योजना बनाते समय हमारा पहला कदम यह होगा कि 'श्रमशक्ति' और 'सम्पदा' की सुलभता को सुनिश्चित कर लिया जाय।

कुमारप्पा के अनुसार "अपने देश में हम देखें तो पता चलता है कि 'श्रमशक्ति' की बहुलता है और 'साधन' की कमी। अतः हमारी योजना तभी प्रभावकारी हो सकती है, जब हम उसकी आधारशिला पूँजी नहीं बल्कि श्रम पर रखें। कुमारप्पा ने 'ग्राम–उद्योग' पत्रिका में लिखा कि "विदेशों से माल के आयात पर निर्भर रहना या उसे प्रोत्साहन देना सिद्धान्तः बिल्कुल गलत है। चीनी की कमी को पूरा करने के लिये ताड़ के पेड़ से नीरा उतारकर और उसका गुड़ व चीनी बनाने की बात कही है"।[17]

गाँधीवादी अर्थशास्त्र को समझाने के क्रम में कुमारप्पा कहते हैं कि अर्थशास्त्र के जो साधारण नियम माने जाते हैं, उनके अनुसार चलने से व्यक्ति और राष्ट्र दुखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनते हैं और धनवान लोग के पास अधिक धन इकट्ठा हो जाता है और तब भी इन दोनों से एक भी सुखी नहीं होता।[18]

अपने अर्थ–दर्शन को स्पष्ट करते हुए कुमारप्पा आधुनिक अर्थशास्त्र की कटु आलोचना करते हैं। कुमारप्पा कहते हैं कि पश्चिमी अर्थशास्त्र का मानना है कि जितना अधिक धन इकट्ठा हो उतनी ही अधिक खुशहाली होती है। अर्थात्, प्रजा के सुख का आधार धन को ही मानते हैं। इस कारण वे समझते हैं कि उद्योग धन्धों के विस्तार से जितना धन इकट्ठा हो जाय उतना अच्छा है। ऐसे विचारों के फैलने से इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में कारखानों की भरमार हो गई है। बहुत से लोग खेत छोड़कर शहर में आ बसते हैं। स्वच्छ हवा छोड़कर कारखानों में सारा दिन दूषित वायु में साँस लेने में सुख का अनुभव मानते हैं। परिणामस्वरूप प्रजा निर्बल होती जाती है, लोभ बढ़ता जाता है, अनीति फैलती है और जब हम अनीति को दूर करने की बात करने बैठते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण अमीर लोग हैं। अमीरों के शौक, मौज पूरा करने की खातिर गरीब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मजदूर रात–दिन गुलामी करते हैं। अमीरों की तरह बनने की चाह रखते हैं, लेकिन अमीर नहीं बन पाते। इस कारण वे कुढ़ते हैं– क्रोधित होते हैं।

कुमारप्पा का मानना था कि आधुनिक अर्थशास्त्रों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य को अच्छी से अच्छी और सस्ती से सस्ती चीजें ही खरीदनी चाहिए, अत्यन्त निष्ठुर सिद्धान्त है। हम सदा ऐसे किसी स्वार्थपूर्ण विचार से ही मानवीय व्यवहार चलाते भी हैं। जो अर्थशास्त्र नैतिकता और मानव की भावना का ख्याल नहीं करता वह एक ऐसे मोम के पुतले की तरह है जो दिखाई तो सजीव देता है परन्तु जो होता निर्जीव है। जब–जब ऐसा अवसर उपस्थित हुआ है तब–तब अर्थशास्त्र के ऐसे बने नियम व्यवहार में टूटे हैं और जो राष्ट्र या व्यक्ति उन्हें अपने मूलभूत सिद्धान्त मानेंगे, उनका अवश्य सर्वनाश होगा। जब हम इंगलैण्ड और जापान का सस्ता कपड़ा खरीदने लगे तभी चौपट हो गये। अब हममें तभी जान आ सकती है, जब हम उसी कपड़े को जिसे हमारे पड़ोसियों ने अपने झोपड़ियों में तैयार किया है– खरीदना धर्मतः आवश्यक समझें ।

कुमारप्पा कहते थे कि वह अर्थशास्त्र गलत है, जो नैतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करता है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अहिंसा– धर्म के प्रवेश का इससे कम कोई अर्थ नहीं हो सकता कि अन्तराष्ट्रीय व्यापार के नियमन में नैतिक मूल्यों को पूरा महत्त्व दिया जाये। कुमारप्पा ने गाँधीवादी अर्थशास्त्र के संबंध में लिखा था – गाँधी जी से संबद्ध प्रत्येक प्रवृति और विचार आवश्यक रूप से सत्य और अहिंसा से प्रसृत होना चाहिए, हमें ऐसी समाज व्यवस्था खोजनी चाहिए, जिसमें कुछ सीमा तक लोगों को लाभ की भावना तो रहेगी, लेकिन वह कमजोरों का निर्दयतापूर्वक शोषण नहीं करेगी। प्रत्येक व्यक्ति का विकास आवश्यक है। हर एक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का उपयोग करने में स्वाधीन होना चाहिए।

कुमारप्पा ने स्वदेशी को राजनैतिक स्वदेशी और अहिंसक स्वदेशी में बाँटा है। राजनैतिक स्वदेशी का अर्थ है किसी अनिश्चित राजनैतिक या भौगोलिक सीमा में उत्पादित वस्तु, जिसमें नैतिक मूल्यों की आवश्यकता नहीं भी हो सकती है और जब इसी आधार पर विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय तो परस्पर घृणा भी पैदा हो सकती है। इसके विपरीत सच्चे स्वदेशी का विचार हमेशा पड़ोसियों को एक सूत्र में ही बाँधता है। युद्ध और शान्ति के विषय में कुमारप्पा का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है – 'हमें यह स्वीकार करना होगा कि सारे आधुनिक युद्ध कच्चे माल और बाजार की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आर्थिक होड़ से पैदा होते हैं। जब जीवन का स्तर जटिल होता है और यह जटीलता कृत्रिम रूप से अपनाई हुई आवश्यकताओं की लम्बी श्रृंखला से निर्मित होती है तो ऐसी आवश्यकता किसी प्राकृतिक अभाव की पूर्ति नहीं करती। इस स्थिति में जब तक हर बुराई का इलाज नहीं किया जाएगा तब तक विश्व शांति की स्थापना नहीं हो सकती।

पैसे के चलन के संबंध में वे लिखते हैं कि "इसके अत्यधिक उपयोग से हिंसा बढ़ती है। व्यापार में असत्य दाखिल होता है और हमारी उत्पादक शक्ति का अनुपयुक्त इस्तेमाल होता है। जबकि देश में भुखमरी फैली हुई है, उसकी शक्ति और साधन तम्बाकु की खेती में लगाये जा रहे हैं। एक गरीब देश में जो भुखमरी के बिल्कुल कगार पर खड़ा है हमें विनिमय और मुनाफे की दृष्टि से नहीं, बल्कि मनुष्य की आवश्यकता और पोषण की दृष्टि से मूल्याँकन करना चाहिए।" कुमारप्पा आगे लिखते हैं कि– "भौतिक सुख और समृद्धि ही जीवन का उद्देश्य नहीं है, जरूरतों को बराबर बढ़ाते जाने से जीवन के मूल उद्देश्यों में गड़बड़ी होगी और कारखानेदार नये–नये ढंग और फैशन चलाकर जिन चीजों को जनता के मत्थे मढ़ना चाहते हैं उनका महत्त्व बढ़ जाएगा। गोदाम में भरे हुए माल को खपाने के लिए चूँकि उनकी झूठी उपयोगिता बतायी जाती है, इसलिए इसके फलस्वरूप संस्कृति विकृत हो जाती है।"

कुमारप्पा मानव–व्यक्तित्व और चरित्र के पूर्ण विकास को तो श्रम का साध्य मानते ही हैं, लेकिन एक अर्थशास्त्री के रूप में वह आर्थिक विषमता जैसी समस्या को सुलझाने के लिए भी श्रम के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके विश्लेषण के अनुसार धन का केन्द्रीकरण मशीनों के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है, जबकि श्रम को वितरण का आधार बनने का तात्पर्य श्रम आधारित उत्पादन प्रक्रिया में स्वयमेव वितरण प्रक्रिया का भी अन्तर्निर्मित हो जाना है। यदि श्रम उत्पादन का प्रमुख साधन है, तो वह सब की पहुँच में होगा, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक हो सकता है और, इसलिए, उत्पादन के लाभों का भी समान सहभोगी हो सकता है।[19]

कुमारप्पा मानते थे कि शारीरिक श्रम महत्त्वपूर्ण होते हुए भी केवल हाथों–पैरों से ही उत्पादन नहीं हो सकता। उत्पादन के लिए उसे कुछ सामग्री और किसी–न–किसी प्रकार की तकनीकी की आवश्यकता होती है; सामग्री प्राप्त करने के लिए चाहे वह कच्ची मिट्टी ही क्यों न हो। इसलिए, ऐसी वैकल्पिक तकनीकी का सवाल भी उठता है, जो न केवल अधिकतम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सीमा तक उपकरणीय सामग्री पर काम कर सके, बल्कि पर्याप्त उत्पादन और रोजगार की जरूरतों की पूर्ति भी कर सके।

कुमारप्पा मानते हैं कि हमारे जीवन की व्यवस्था मानव जीवन के नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, कलात्मक मूल्य, शारीरिक और पोषक मूल्य इत्यादि बहुरूपी पक्षों को उन्नत और विकसित करने की दृष्टि से स्थिर किये हुए विभिन्न पैमानों के आधार पर होनी चाहिए। उचित मार्गदर्शन मिलने पर जीवन प्रकृति के नियमों के अनुसार चलेगा, उसका विरोध करके हिंसा का निर्माण नहीं करेगा और इस प्रकार मानव अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण बनायेगा। हिन्दुस्तान में हमेशा यह कहा जाता है कि गरीबी समाप्त करनी है, लेकिन गरीबी के मानी क्या है? किसी ने कहा है कि गरीबी के मानी है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होना। पर आवश्यकता किसे कहा जाय? क्या रोल्स मोटर गाड़ी एक आवश्यक चीज है? यदि कोई स्त्री लिपिस्टिक खरीदना चाहती है, पर उसके पास उतने पैसे नहीं हैं, तो क्या उसके बिना उसका जीना असम्भव सा हो जाता है? आदमी के अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये और अपनी हस्ती टिकाये रखने के लिये जो चीजें आवश्यक होती है, ये कुदरती भी है और उन्हीं की पूर्ति के लिये हम कोशिश करेंगे न कि कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये। इसलिए हमारी योजना का उद्देश्य भूखमरी को मिटाने का होना चाहिए। इसके लिये हमारे पास कौन से साधन हैं? क्या पूँजी के बल पर हम यह सिद्ध कर सकेंगे? कई लोग यह कहते हैं कि आप जितनी अधिक पूँजी लगायेंगे, उतना आपका उत्पादन अधिक होगा। अर्थशास्त्र के पंडितों ने आवश्यक पूँजी और उसके फलस्वरूप बढ़नेवाली प्रतिशत पैदावार का हिसाब लगाया है। वे शायद मानते हैं कि खेतों में पैसा बोने से पैदावार बढ़ सकती है, पर ऐसा कभी नहीं होता। हमारे देश में उत्पादन का सबसे बड़ा साधन मनुष्य की मेहनत है। यदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हमें करनी है तो इस बढ़िया साधन का अधिक से अधिक उपयोग कर हमें अपनी भूख की तृप्ति करनी चाहिए।

गाँधीजी तथा कुमारप्पा में खादी ग्रामोद्योग के संबंध में चर्चा होती रहती थी। गाँधीजी का ध्यान खादी की ओर केन्द्रित था। कुमारप्पा ने ग्रामोद्योग की ओर गाँधीजी का ध्यान खींचा। इसके लिये ग्रामोद्योग पर एक नोट भी कुमारप्पा ने तैयार किया। कुमारप्पा लगभग 20 वर्ष तक वर्धा में रहे जिसे 1934 में मगनवाड़ी का नाम दिया गया। इस देश की अर्थनीति में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

खादी ग्रामोद्योग का विचार स्वदेशी के माध्यम से आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस ने मुम्बई के अधिवेशन में उसी मामले पर विचार किया और 26 अक्टूबर को निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया–"चूँकि जनता में स्वदेशी के वास्तविक स्वरूप के बारे में बहुत भ्रान्ति पैदा हो गई है और चूँकि काँग्रेस का लक्ष्य आरम्भ से ही आम जनता के साथ उत्तरोत्तर एक रस होते जाना है और ग्राम पुनर्गठन और पूर्ण निर्माण का आशय आवश्यक रूप से मृत अथवा मृतप्राय ग्रामोद्योग को पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करने का है जिसमें कताई के मुख्य उद्योग के अतिरिक्त अन्य बहुत से उद्योग शामिल हैं, और चूँकि हाथ कताई के पुनः संगठन की भाँति यह काम भी कांग्रेस की राजनैतिक प्रवृत्तियों से स्वतंत्र और अप्रभावित रहकर केन्द्रीभूत विशेष प्रयत्नों से ही किया जा सकता है। अतः जे.सी. कुमारप्पा को गाँधीजी की सलाह और मार्गदर्शन में ग्रामोद्योग संघ नामक एक संस्था का निर्माण करने का अधिकार दिया जाता है।"

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के चुनाव के समय कुमारप्पा को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे कांग्रेस के तत्त्वाधान में गाँधीजी की सलाह और उनके मार्गदर्शन से एक स्वायत्तशासी संगठन की स्थापना करें जिसका नाम अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ होगा और जिसे अपना संविधान बनाने, कोश इकट्ठा करना और अपने उद्देश्य को बढ़ावा देने के लिये आवश्यक सभी कार्य पूरा करने का अधिकार होगा। एक सलाहकार मंडल की व्यवस्था भी संघ के संविधान में थी जिसके 18 सदस्य थे, इसमें श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर, श्री जे.सी. बोस, श्री पी.सी. राय, श्री सी.वी. रमण, श्री जमाल मुहम्मद, श्री जी.डी. बिड़ला, श्री सॉम हिगिनबाथम्स. श्री एम.ए. अंसारी, श्री रॉबर्ट मेककारिसन प्रमुख थे। ग्रामोद्योग संबंधी आंदोलन भी भारत के स्वाधीनता संग्राम और काँग्रेस संगठन के अन्तर्गत उत्पन्न हुआ और गाँधीजी की छत्रछाया तथा सक्रिय मार्गदर्शन विकसित हुआ। जब 1937 में प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल विभिन्न प्रान्तों में स्थापित हुए तो उन्होंने ग्रामोद्योग पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देने का प्रयत्न किया।

अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की पंचमुखी योजना थी– 1. शोध अनुसंधान 2. उत्पादन 3. प्रशिक्षण 4. विस्तार और संगठन 5. प्रचार और प्रकाशन। ये पाँचों प्रवृतियाँ मगनबाड़ी में अपनी पूरी गहराई और व्यापकता से चलायी जाती थी और लगभग 15 वर्षों तक कुमारप्पा अपनी पूरी क्षमता, परिश्रम और प्रयत्न के साथ उनका संचालन करते रहे। प्रशिक्षण की दृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से ग्रामसेवक विद्यालय मगनबाड़ी में चलाया गया। मगनबाड़ी के प्रयोगों और उपलब्धियों को व्यापक बनाने के लिए कुमारप्पा देशभर में दौरा करते रहे और उन्होंने मगनबाडी के कामों को एक आन्दोलन का रूप देने का प्रयास किया।

आजादी मिलने पर जब भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना की, तो कुमारप्पा जी को इसके सलाहकार मंडल का सदस्य बनाया गया। सलाहकार मंडल की बैठकों में जब कुमारप्पा ने भाग लिया तो राष्ट्र के योजनाकारों और रचनात्मक कार्यकर्ताओं के बीच दृष्टिकोण का जो मूलगामी अंतर था, वह और भी उभरकर सामने आ गया और जिस तरह से कांग्रेस की योजना समिति में कुमारप्पा समय गंवाना बेकार समझकर हट गये थे, उसी तरह योजना आयोग से भी वे अलग हो गये। कृषि सुधार कमेटी के अध्यक्ष के रूप में कुमारप्पा जी का ध्यान कृषि ग्रामोद्योग समन्वित अर्थव्यवस्था की आवश्यकता और महत्त्व पर अधिकाधिक केन्द्रित होता गया।

कुमारप्पा के विचारों की उपयोगिता आज के संदर्भ में भी खरी उतरती है। शूमाखेर जैसे विचारक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Small is Beautiful में कुमारप्पा के विचारों का उल्लेख किया है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कुमारप्पा ग्रामीण जीवन को प्रत्यक्ष जीने के लिये तथा खेती उत्पाादन पर स्वांवलंबी जीवन कैसे जी सकते हैं, इसका प्रयोग करने के लिये वर्धा से 32 कि.मी. दूर सेलडोह नामक ग्राम में रहने चले गये थे। किन्तु खराब स्वास्थ्य के कारण वे इस प्रयोग को अंतिम परिणिती तक नहीं ले जा सके।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि यदि हमें कुमारप्पा के अहिंसक विकास की तरफ बढ़ना है तो विकास सिर्फ आर्थिक वृद्धि नहीं होकर मानव हितार्थ हो। विकास को मानव हितग्राही होने के लिए आधारभूत संरचनात्मिक परिवर्तन जरूरी है। गाँधीजी जब स्वदेशी की बात कर रहे होते हैं तो वह संरचनात्मक परिवर्तन की तरफ ही इशारा करते हैं। जहाँ उत्पादन 'बाजार' की आवश्यकता के अनुसार न होकर 'समाज' की आवश्यकता के आधार पर हो। क्योंकि बाजार कृत्रिम मांग पैदा करता है तथा मानव के बजाय लाभ उसके केन्द्र में होता है। देशज (वैकल्पिक) विकास के लिए एक नयी संस्थागत रूपरेखा को कुमारप्पा सहकारी समितियों का नाम देते हैं जिसमें जनता और उसके साहचर्यो को अधिक निर्णायक भूमिका मिल सकती है। इस क्रम में विकास की प्रक्रिया को सही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थों में सहभागी बनाने वाले प्रयास के विषय में सोचना अवश्य है। यह तभी संभव होगा जब आम आदमी की सही अर्थों में सत्ता और संसाधनों तक पहुँच हो। गाँधी के ग्राम स्वराज का भी तो आखिर यही सपना था।

वर्धा समाज कार्य संस्थान क्षेत्रीय केंद्र, प्रयागराज
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
6-1/3, झुंसी परियोजना-3. झुंसी, प्रयागराज-211019

संदर्भ–

1. एडम स्मिथ 'वेल्थ ऑफ नेशन' लंदन, डब्ल्यू स्ट्रहान और टी कैडेल.
2. मारक्यू ज, हरबर्ट, वन डायमेंशनल मैन, स्ट्डीज इन द आइडियोलोजी ऑफ एडवांस्ड इंडस्ट्रियल सोसायटी, लंदन, राउटलेज, 1991, पृ.3
3. वही, पृ. 139
4. वर्मा,डॉ.विश्वरनाथ प्रसाद,द पॉलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी एंड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल एजुकेशनल पब्लिशर्स, आगरा, 1959, पृ. 130
5. माथुर, जे. एस., कंटम्पपरोरी सोसायटी : ए गांधियन एप्राइजल, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्लील, 2010, पृ– 43
6. श्रीमन्नारायण, गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत, पूर्वोक्त, पृ. 7.
7. गालब्रेथ, जॉन काइनेथ, इकोनॉमिक्स एंड द पब्लिक पर्पज, बोस्टन, 1973, पृ. 211.
8. श्रीमन्नारायण, गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत, पूर्वोक्त, पृ. 7.
9. सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय, खण्ड–42, पृ.–232–3.
10. सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय, खण्ड–42, पृ.–504.
11. कुमारप्पा, स्थायी समाज व्यवस्था, पृष्ठ 1–80
12. वही, पृष्ठ–136
13. वही, पृष्ठ–80
14. कुमारप्पा, स्थायी समाज व्यवस्था, पृष्ठ 1–109
15. वही, पृष्ठ–139
16. वही, पृष्ठ–141
17. सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय, खण्ड–84, पृ.–40.
18. सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय, खण्ड–8, पृ.–364.
19. आचार्य, नंदकिशोर, (2022) अहिंसक अर्थशास्त्र, जयपुर, प्राकृत ग्रंथ अकादमी.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्रद्धांजलि

प्रोफेसर जीतेन्द्र नाथ मोहन्ती

(पूरब और पश्चिम की अन्तःपदीय समझदारी के उन्मीलक आचार्य)

संजय कुमार शुक्ल

प्रोफ़ेसर जीतेन्द्र नाथ मोहंती का जन्म 26 सितम्बर, 1928, कटक (उड़ीसा) में हुआ था। दस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने पण्डित नीलकंठ मिश्र जी से पाणिनी के संस्कृत व्याकरण, कालिदास के रघुवंशम् एवं तर्कसंग्रह का अध्ययन घर पर ही सम्पन्न किया। दसवीं एवं बारहवीं की परीक्षा ख्यातिलब्ध रावेनशाव कालेज से प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण करने के पश्चात् उनका दाखिला प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में हुआ। दर्शनशास्त्र (ऑनर्स) प्रथम वर्ष के विद्यार्थी स्तर पर उनका एक आलेख "दी फाइनाइट एण्ड दी इनफाइनाइट" कालेज की पत्रिका में प्रकाशित हुआ जो इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उनकी अभिरुचि दार्शनिक चिंतन एवं लेखन में प्रारम्भ से ही थी। उन्होंने अपने पिता जगन्नाथ मोहन्ती जो कि प्रसिद्ध अधिवक्ता एवं न्यायाधीश थे, की इच्छाओं का सम्मान करते हुए विधि विषय का अध्ययन किया, किन्तु अंतिम परीक्षा में सम्मिलित नहीं हुए। स्वेच्छा से उन्होंने अकादमिक जगत् का चुनाव किया और इसका ही प्रतिफल है कि उनके रूप में भारत को एक उच्च कोटि का दार्शनिक प्राप्त हुआ। दर्शनशास्त्र में परा–स्नातक पाठ्यक्रम के दौरान कलकत्ता विश्वविद्यालय में वे भारतीय दर्शन के मौलिक ग्रंथों से परिचित हुए। उन्होंने अपनी कृति "रीजन एण्ड ट्रैडिशन इन इन्डियन थॉट" को महामहोपाध्याय पण्डित योगेन्द्रनाथ तर्कवेदान्त तीर्थ एवं अनन्त कुमार तर्कातीर्थ को समर्पित किया है, क्योंकि इन दोनों के सान्निध्य में उन्होंने क्रमशः वेदान्त एवं न्याय का ज्ञान अर्जित किया था। प्रोफ़ेसर मोहन्ती ने गोटिन्जेन विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि (1952–54) हरमन वीन के निर्देशन में प्राप्त की थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शोध पूर्व पाठ्य योजना में वे यद्यपि हीगल के दर्शन का अध्ययन करते रहे किन्तु उनके शोध का क्षेत्र 'क्वान्टम का सिद्धान्त' रहा जो कि विज्ञान के दर्शन से संबद्ध है। कालान्तर में उनकी विशिष्ट अभिरुचि हुस्सर्ल के फिनोमिनोलॉजी में जागृत हुई और इसी जिज्ञासा के परिणामस्वरूप उन्होंने कई वर्षों के कठिन परिश्रम से 'हुस्सर्ल आरकाइव' का कार्य सम्पन्न किया। हुस्सर्ल को उसकी निजता में समझने के उद्‌देश्य से ही उन्होंने जर्मन भाषा पर अधिकार प्राप्त किया और इस कारण वे जर्मन भाषा में लिखे मौलिक ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन सुगमता से कर सके। पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त प्रोफ़ेसर मोहन्ती कलकत्ता वापस आए और वर्द्धवान विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य (विवेकानन्द प्रतिष्ठित पीठ) पद को सुशोभित किया। तदन्तर कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य (ब्रजेन्द्रनाथ सील पीठ) पद पर प्रतिष्ठित हुए। 'वे जर्मनी में न्यू स्कूल फॉर सोशल रिसर्च' में आचार्य पद पर रहे और इसके अतिरिक्त ओकलाहोमा, इमोरी एवं टेंपल विश्वविद्यालय में भी आचार्य के रूप में भारत का सम्मान बढ़ाया है। यद्यपि उन्होंने अनेकों विश्व के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में अतिथि आचार्य के रूप में भी सेवायें दी, किन्तु उनका अधिकांश समय कलकत्ता एवं टेंपल विश्वविद्यालय में कार्य करते हुए व्यतीत हुआ। वे एमेरिटस प्रोफेसर–टेंपल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी उन्हें डी.लिट्. की मानद उपाधि से विभूषित उनकी अध्येतृता को सम्मानित किया है। उन्हें ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा स्वर्ण पदक, जर्मन शासन द्वारा अध्ययेतावृत्ति के लिए हमबोल्ट पुरस्कार, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा लाइफ टाइम एचिवमेन्ट पुरस्कार एवं हुस्सर्ल सर्किल द्वारा सर्वश्रेष्ठ पुस्तक सम्मान से भी सम्मानित किया गया था। वे 'हुस्सर्ल स्टडीज' के संस्थापक संपादक भी थे।

प्रोफेसर मोहन्ती पूरब और पश्चिम की अन्तःपदीय दार्शनिक समझ रखने वाले एक दुलर्भ अध्येता के रूप में जाने जाते हैं। हम यहाँ उनकी कुछ विशेष कृतियों का उल्लेख करना चाहेंगे जो कि भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही दार्शनिक परंपराओं के लिए महत्त्वपूर्ण हैं :

1. निकोलाई हार्टमैन एण्ड ऑलफ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड : अ स्टडी इन रिसेन्ट प्लेटोनिज्म
2. एडमण्ड हुस्सर्लस थ्योरी ऑफ मीनिंग
3. दी फिलासफी ऑफ एडमण्ड हुस्सर्ल : ए हिस्टॉरिकल डेवलपमेंट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

4. लॉजिक, ट्रूथ एण्ड मोडेलिटिज : फ्रॉम फिनोमिनोलॉजिकल पर्सपेक्टिव
5. दी पॉसिबिल्टी ऑफ ट्रांसेन्डेन्टल फिलॉसफी
6. फिनोमिनोलॉजी एण्ड दी ह्यूमन साइन्सेस
7. लेक्चर ऑन काण्टस क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन
8. इमप्लीकेशन्स ऑफ दी फिलॉसफी ऑफ काण्ट
9. दी सेल्फ एण्ड इट्स अदर
10. क्लासिकल इन्डिन फिलॉसफी
11. रीजन एण्ड ट्रेडिशन इन इन्डियन थॉट
12. गंगेश थ्योरी ऑफ ट्रूथ
13. ऑन बींग एण्ड वाट प्योर इज
14. बिट्विन टु वर्ल्ड : ईस्ट एण्ड वेस्ट–एन ऑटोबायोग्राफी
15. फिनोमिनोलॉजी एण्ड इन्डियन फिलासफी
16. दी कान्सेप्ट ऑफ इन्टेनशिलिटी
17. हुस्सर्लस फिनोमिनोलॉजी : ए टेकस्ट बुक (संपादित)
18. मेकिंग अवाइट बींग : आस्पेक्ट्स ऑफ हाइडेग्गर्स थॉट
19. लेक्चर्स ऑन कॉन्शसनेश एण्ड इन्टरप्रेटेशन
20. रीडिंग्स ऑन हुस्सर्लस लॉजिकल इन्वेस्टीगेशन्स
21. इण्डियन लॉजिक एण्ड दी डेवलेपमेन्ट ऑफ मॉर्डन लॉजिक
22. दी लास्ट फेज ऑफ एडमण्ड हुस्सर्लस फिलॉसफी
23. सेल्फ, नॉलेज एण्ड फ्रीडम : एस्सेज फॉर कालीदास भट्टाचार्य (संपादित)

प्रोफ़ेसर मोहन्ती वास्तविक अर्थ में देशभक्त एवं ज्ञान प्राप्ति के उच्च कोटि के साधक थे। वे अध्यापन कार्य में संलिप्त होने के पूर्व आचार्य विनोबा भावे के घनिष्ठ संपर्क में रहते हुए भारत का विस्तृत भ्रमण किया और इस दौरान वे उपनिषदों का गंभीर अध्ययन किये। उन्होंने अपनी आत्मकथा में यह स्वीकार किया है कि भारतीय दर्शन का प्रशिक्षण उनके अकादमिक जीवन में अत्यन्त मूल्यवान रहा और इसी के चलते किसी भी दार्शनिक संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को बेहतर ढंग से वे समझ सके। विनोबा जी के विचारों का अत्यन्त ही गहरा प्रभाव मोहन्ती के जीवन पर पड़ा और वे संपूर्ण जीवन निर्धन एवं दुःखी व्यक्तियों की सहायता करते रहे। हमबोल्ट पुरस्कार से प्राप्त समस्त धनराशि को उन्होंने वंचित एवं कष्टप्रद व्यक्तियों की सहायता हेतु दान किया। उड़ीसा की अपनी सम्पूर्ण पैतृक संपत्ति का दान उस क्षेत्र में विद्यालय एवं महाविद्यालय को निर्मित एवं विकसित करने के लिए उन्होंने किया। यह उनके उदात्त चरित्र एवं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संवेदनशील व्यक्तित्व का द्योतक है। प्रोफेसर मोहन्ती एक ओर हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी के निष्णात विद्वान रहे तो वहीं दूसरी ओर भारतीय दर्शन में भी उनकी गहरी पैठ थी। उनकी विशेष अभिरुचि परंपरा एवं आधुनिकता में सेतु निर्मित करने और इसके अतिरिक्त प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक परंपराओं का तुलनात्मक विवेचन एवं समीक्षात्मक विश्लेषण करने में थी। उनके अनुसार दर्शनशास्त्र मनुष्य के स्व, पर एवं जगत् की अनुभूतियों का विमर्श है। प्रोफ़ेसर मोहन्ती यद्यपि हुस्सर्ल के प्रशंसक हैं किन्तु उनके अंधभक्त नहीं। वे हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी के प्रति समीक्षात्मक दृष्टि अपनाते हैं और इस संदर्भ में उनके दो सिद्धान्त – फिनोमिनोलॉजकीय विच्छेदन एवं पूरकता का सिद्धान्त – महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार हुस्सर्ल के दर्शन में 'अर्थ' एवं 'सार' का व्यामिश्र है जिसकी ओर वे (हुस्सर्ल) ध्यान देने में असफल सिद्ध होते हैं। साभ्यतिक निर्मितियों के सन्दर्भ में चेतना के स्वरूप और उसकी भूमिका को समझने की उनकी विशेष दृष्टि थी। वे चेतना के स्वरूप के संदर्भ में विषयापेक्षिता एवं विमर्शात्मकता के संबन्ध का विश्लेषण करते हैं और इसके अतिरिक्त वे स्वप्रकाश एवं परप्रकाश, सविषयक एवं निर्विषयक, आश्रय एवं निराश्रय के विचार को चेतना के स्वरूप के संदर्भ में विवेचित करते हैं।

उनकी अध्येतृता का फलक बहुत विस्तृत रहा है। वे एक ओर अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध फिनोमिनोलॉजी के विद्वान रहे और साथ ही साथ काण्ट एवं हाइडेग्गर के दर्शन की भी गहरी समझ उनमें देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में न्याय एवं वेदान्त की परंपरा में उनकी मूलगामी पैठ थी। उन्होंने दर्शनशास्त्र की विभिन्न विधाओं – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र, सामाजिक– राजनैतिक दर्शन एवं धर्म–दर्शनादि पर अत्यन्त ही अर्थगर्भ लेखन किया है। यद्यपि मैं आचार्य मोहन्ती का साक्षात् विद्यार्थी नहीं रहा हूँ किन्तु वे मेरे लिए गुरु तुल्य रहे हैं, क्योंकि उनके रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों एवं विचारोत्तेजक आलेखों के माध्यम से ही मुझमें फिनोमिनोलॉजी की कुछ समझ विकसित हो सकी। भारतीय दर्शन को विश्वमंच पर प्रतिष्ठा दिलाने वाले ऐसे मनीषी का देहावसान (7 मार्च 2023) दर्शन जगत् के लिए अपूर्णनीय क्षति है और उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि दर्शन के क्षेत्र में सृजनात्मक लेखन द्वारा ऋषि ऋण को चुकाना है।

दर्शनशास्त्र विभाग
यूइंग क्रिश्चियन कालेज, प्रयागराज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection